मुद्रक :

कमला प्रिंटिंग प्रेस
डालीगंज, लखनऊ
फोन : 9670387782
मोबाइल : 7379819121

ॐ

पुरुषोत्तम गाथा

अथवा

(प्रेम सुधा)

रचयिता

स्वामि बाल

ॐ

पुरुषोत्तम गाथा

अथवा

(प्रेम सुधा)

❖ रचयिता ❖

स्वामि बाल

गुरु महाराज

महर्षि श्री पुरुषोत्तमानन्द जी

स्वामी बालानन्द जी

स्वामी प्रकाशानन्द जी
(गुरु भक्त बीरेश)

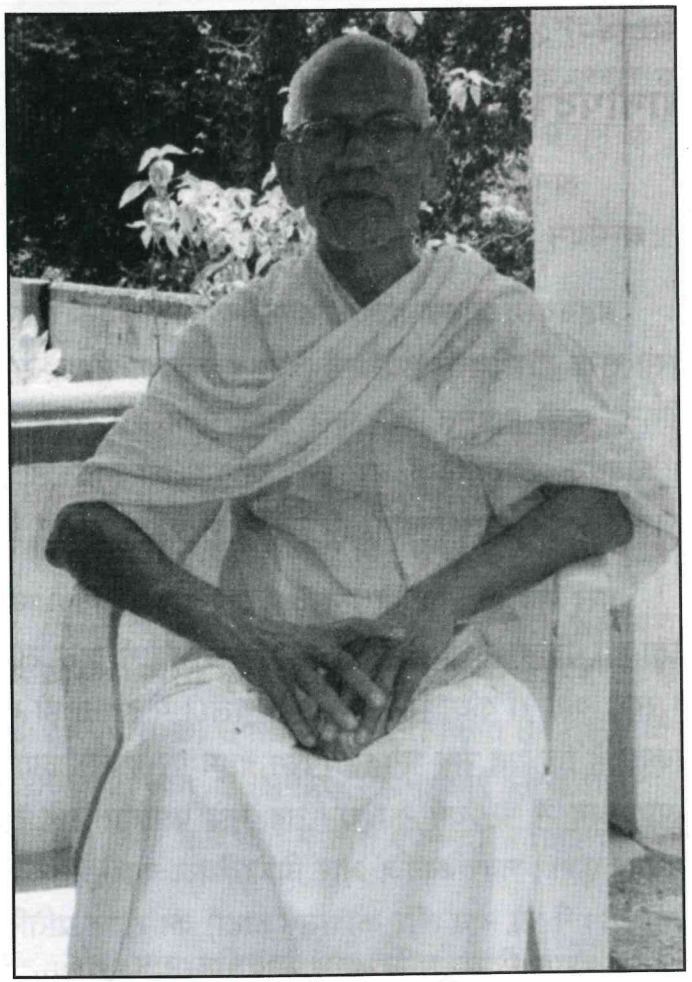

स्वामी चैतन्यानन्द जी

श्री गणेशाय नमः

ॐ

प्राक्कथन

पूज्य गुरु महाराज श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी के परम शिष्य स्वामी बालानन्द जी सर्वप्रथम गुरु महाराज के पास वसिष्ठ गुहा में वर्ष १९३८ में आये थे, तब वे मात्र २५ वर्ष के थे। १० वर्षों तक गुरु महाराज के पास रहकर उन्होंने अपने गुरु से जो कुछ भी सीखा, समझा व अनुभव किया, को पुस्तक के रूप में समेटकर रखने का कार्य वर्ष १९४८ में पूर्ण किया। यद्यपि यह कोई आसान कार्य नहीं है कि सच्चे गुरु को पहचान कर उसकी भक्ति भी प्राप्त कर ली जाये और प्रकृति के गुणों में लय होकर गंगा की अविरलता का स्पन्दन हृदय में महसूस किया जाये।

वसिष्ठ गुहा में गुरु महाराज के सान्निध्य में रहकर प्राप्त किये ज्ञान के प्रकाश में उन्होंने इस पुस्तक को लिखा। पुस्तक चार भागों, प्रेम शिक्षा, अथ कर्मशासन, गंगा माता से और अथ लक्ष्य भेदन, में विभक्त है। प्रेम अथवा सबके प्रति समभाव, कर्मशासन

यानी निष्काम कर्म करते हुए जीवन यापन करना, गंगा माता से संवाद यानी प्रकृति से तादात्मय स्थापित करते हुए अच्छा व बुरा उसे समर्पित कर, जीवन का लक्ष्य निर्धारित करके उस मार्ग पर चलने के लिये आत्मबल प्रदान करता है, जो जीवन के लक्ष्य को सफलतापूर्वक प्राप्त करने के लिये आवश्यक है।

यह पुस्तक ०१-०१-१९४९ को पूर्ण की गयी एवम् ०१-१०-१९५० में स्वामी जी के परम् मित्र एवम् गुरुभाई श्री वीरेश जी, वर्तमान में स्वामी प्रकाशानन्द जी द्वारा प्रकाशित करवायी गयी। इस अमूल्य पुस्तक की एक प्रति स्वामी बालानन्द जी के शिष्य श्री हरीराम पुञ्ज लुधियाना से प्राप्त हुई है। गुरु महाराज के १२५वें जन्म महोत्सव के पावन पर्व पर उनके श्रद्धालु भक्तों को प्रसाद स्वरूप उपलब्ध कराने हेतु श्री अश्वनी कुमार के सहयोग से पुनः इसका प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा वर्ष २००४ में करवाया गया। भक्तों को इस पुस्तक का लाभ प्राप्त हो सके, अतः श्री सतीश कुमार के सहयोग से इसे पुनः ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित करवाया जा रहा है। मैं गुरु महाराज की ओर मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूँ।

स्वामी बालानन्द जी ने अपने अनुभव को अपनी पुस्तक श्री पुरुषोत्तम गाथा अथवा प्रेमसुधा में प्रस्तुत कर ज्ञान प्रेमियों के

सम्मुख रखा, ताकि इसका लाभ गुरु महाराज के समस्त भक्तों एवम् इस मार्ग पर चलने वालों को प्राप्त हो सके।

मुझे विश्वास है कि श्रद्धालु भक्तगण इसे पढ़कर अध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति अवश्य करेंगे।

स्वामी चैतन्यानन्द

वसिष्ठ गुहा आश्रम,

टेहरी गढ़वाल (उत्तरांचल)

१२.०७.२०१४

गुरु महाराज द्वारा स्वामी बालानन्द जी का परिचय

गुरु महाराज ने अपनी आत्म कथा "ईश्वर कारुण्यम्" में वर्ष १९५१ में दक्षिण यात्रा के समय स्वामी बालानन्द जी के साथ का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है।

जब मैं गुहा में रहता हूँ, लोग समय-समय पर मेरे आश्रम में आकर रहते हैं। कायंकुलम् के निकट मनकुजी का एक युवक ऐसा ही व्यक्ति था, उसका नाम बालानन्द था। वह बहुत दिनों से मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। हरिप्पाट आश्रम से में मुट्टम् आश्रम पहुँचा। वहाँ मैं २-३ दिन रुका। बालानन्द जी भी वहाँ आ गये। वहाँ से कायंकुलम् आश्रम होकर वे अपने घर ले गये। वहाँ से कायंकुलम् होकर प्रसिद्ध ओच्चिरा आया। मैं इस प्रसिद्ध स्थान पहली बार आया। अब वह समय आया, जब मैं प्रसिद्ध ओच्चिरा को देख सका। बालानन्द जी ओच्चिरा में एक आश्रम निर्मित करना चाहते थे। जब मैं बालानन्द जी के साथ २-३ दिन रुका था, तो मुट्टम् आश्रम के मुखिया मुझे कार से अपने आश्रम ले गये। मैंने प्रसन्नता पूर्वक ३-४ दिन गुजारे।

बालानन्द जी कायंकुलम् के निकट सेवा आश्रम के लिये छोटा सा भवन निर्माण कर रहे थे और निर्माण कार्य अन्तिम चरण में था। उन्होंने शुभारम्भ समारोह सम्पन्न करने के लिये मुझे बुलाया। यह वह समय था, जब मैं केरल यात्रा को समाप्त करके उत्तर भारत लौटने की तैयारी कर रहा था, किन्तु उनकी इच्छा पूर्ति के लिये मैं पुनः मुट्टम् होकर उनके सेवा आश्रम गया। चितसुखानन्द स्वामी जी विशेष रूप से हरिप्पाट से मेरे साथ आये थे। शुभारम्भ समारोह में भाग लेने के बाद अगले दिन बस से मैं आलप्पुजा गया।

ॐ श्री

श्रीगणपतये नमः श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः

पुरुषोत्तम-गाथा

अथवा

सद्गुरु-प्रसाद

ग्रन्थ-समर्पण

सर्व-देवमय सर्व-तीर्थरुप पतित-पावन श्रीहरि-लीला-नायक महा कारुणिक भगवान् श्री सद्गुरुदेव, स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज के निर्मल-पाद-सरोजों में ही इस गाथा-रुपिणी मनोमयी भावना-कुसुमाञ्जलि को सादर समर्पण करता हूँ।

वसिष्ठ गुहा विनीत

१.१.४६ बाल

"प्रस्तावना"

महापुरुषों की जीवनी परमार्थ में जिज्ञासुओं के लिये तो परमोपयोगी सिद्ध होती है। उनके भाव भाषण, कार्यकुशलता तथा व्यवहार से स्वतः उच्च शिक्षा प्राप्त होती रहती है, परन्तु "दुर्लभं महापुरुषसंश्रयः" अर्थात् सत्पुरुषों का संग अतीव पुण्य-परिपाक अथवा कठिन तपस्या का ही वरदायी फल है यह विद्वानों का सिद्धान्त है। श्रुति, युक्ति, अनुभवादि प्रमाणों से यही प्रमाणित होता है कि अज्ञान ही दुःख का कारण है अतः स्व-अज्ञान के नाश होते ही दुःखों का भी नाश होना स्वयं-सिद्ध है। यथा गीता में भगवान कहते हैं "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः" अर्थात् ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होते ही अज्ञानान्धकार का सर्वथा लोप हो जाता है। परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाये। इसी उपाय को बतलाते

हुये गीता में भगवान घोषणा करते हैं कि "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः।" अर्थात् परम-श्रेष्ठ यही ज्ञान महापुरुषों का प्रसाद-स्वरूप है। यथाविधि दण्ड-प्रणाम सेवा विनीत-प्रश्नादि उपायों से ज्ञानी-पुरुषों को सन्तुष्ट करना। तब कृपा करके वे तत्वोपदेश दिया करते हैं। उसी तत्वोपदेश का महत्व बतलाते हुये भगवान् अगले श्लोक में कहते हैं कि, यं लब्ध्वा न परं लाभमिति-अर्थात् इससे बढ़कर संसार में और कोई लाभ नहीं है।

यहाँ मेरा अभिप्राय परम-पूज्यनीय श्री स्वामी जी के संसर्ग से प्राप्त कतिपय अनुभवों से प्रिय-पाठकों को अवगत कराना है। आधुनिक काल में स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज का स्थान सुतरां सर्वमान्य है। जैसा कि उनके स्वदेशीय-विदेशीय अनेक प्रेमी भक्तों विद्वानों और जिज्ञासुओं के शुद्ध-भक्ति-भाव से स्पष्ट होता है। यहाँ तक कि पश्चिम देशों के यथा अमेरिका, यूरोप, अफरीका आदि के विदेशी विद्वानों ने भी पूज्य स्वामी जी के पुण्य-सान्निध्य से आत्मानन्द का अनुभव किया। आजकल भी एक हालैण्ड-निवासी गोरा भक्त स्वामी जी की शिष्य वृत्ति में है। गुरुदेव के पवित्र प्रेम का, दरिद्र और धनी, समानरूप से रसास्वादन करते हैं। आबाल वृद्ध प्रेमी-गण उनके महनीय

सान्निध्य में एक अलौकिक शान्ति का आभास पाते हैं। यह प्रेमियों का स्वानुभव है।

स्वामी जी ने सुप्रतिष्ठित वसिष्ठाश्रम को लगभग बीस वर्ष से सजीव किया है। यह आश्रम पुराण महर्षि वसिष्ठ जी का पुण्य स्थान है। वसिष्ठ गुहा हिमालय प्रदेश में एक विशेष तीर्थ है ऋषीकेश से बारह-तेरह मील उत्तर में देव प्रयाग रोड पर अवस्थित है। पुण्य-सलिला भगवती भागीरथी अपने कल-कल-रव से आश्रम को नित्य प्रति गुञ्जायमान करती रहती है। गुहा का आंगण-स्थल गंगा की शुद्ध सतरंगी रेती से आच्छादित है। शिलाजीत के कृष्ण-वर्ण-प्रस्तर-निर्मित नैसर्गिक गुहा का उद्देश्य चालीस फीट लम्बा वा अनुमानतः दश-बारह फीट चौड़ा है। अंतः प्रदेश विषमाकार होते हुये भी शिरर्स्पश नहीं करता तथा पुरातन व प्राकृतिक होने से दर्शनीय भी है। गुहा तीन कमरों में विभाजित है भीतरी अन्तिम कमरे के उच्च-स्थान पर आशुतोष भगवान् महादेव का लिंग सुशोभित है जिस के सम्बन्ध में मुझे अधिक जानकारी नहीं है।

गुहा के आस पास टिहरी सरकार द्वारा बनवाई गई धर्मशाला तथा चन्द सरकारी इमारतों के अतिरिक्त और वन प्रदेश ही है। ग्राम दूरस्थ है। आश्रम के निर्मल एकान्त वातावरण में

प्रकृति देवी शान्ति देवता के साथ दर्शकों के नेत्रों को आकर्षित करती सी प्रतीत होती है। चारों ओर से परस्पर सटे हुये उत्तंग गिरिवरों के झुरमुट बहु-विधि वृक्ष-लता-समावृत-आश्रम की रक्षा करते हुये खड़े हैं। गुहोपरिस्थ-विस्तृत-वट-वृक्ष की वायु-प्रेरित केशिकायें नित्य-प्रति चामर डोलती विदित होती हैं। समीपवर्तिनी छोटी-छोटी गुहायें सखियों की तरह दोनों पार्श्वों में स्थित हैं।

आश्रम के पुरोभाग को अति कमनीय भाँति-भाँति के लता कुञ्जों, उपवनों वृक्षालिय से कुशलता पूर्वक सजाती हुई प्रकृति देवी पवित्र-कारिणी कुशस्थली में स्वयं चकित हो तिरोहित सी होने लगती है। आश्रम के प्राचीन महिमामय-यशोगुण के गायक सूत-मागध वैतालिक आदि लोग शकुन्तादि-पक्षी-गणों के रूप में मानों आज भी श्रुति-पुट-मधुर सर्वांगीण-सुन्दर-संगीत से अंतरिक्ष को मुखरित कर रहे हों। प्रातः काल की शोभा विशेष मनोहर हो जाती है जब कि शुक-पिकादि पक्षियों के मनोहर गीत-वाद्यों से सारा आश्रम गुञ्जायमान हो जाता है अपनी अपनी मोहनियों के साथ नृत्य-गान-रत ललितकला-कुशल वन-कुक्कुट समय-समय पर एक अनोखा ही दृश्य उपस्थित करते हैं। दर्शकों के मानसिक विचारों को ये मनोवैज्ञानिक कुक्कुट तत्क्षण ताड़ जाते हैं, हिंसक-वृति के उदय होते ही तत्काल अदृश्य हो जाते हैं। कभी

कभी मृगराज शार्दूल भी आश्रम-निरीक्षण के हेतु सहसा उपस्थित हो जाते हैं। इसी कारण गउ रक्षा की चिन्ता आश्रय वासियों को रखनी पड़ती है। साथ-साथ दक्षिण पूर्व में गंगा जी बहती हैं। तपस्वियों को प्रिय माता की न्यायी आश्रय सब प्रकार से सुख कारक है अनधिकारियों के लिये वसिष्ठाश्रम सुखकर न होना भी बहुश्रुत है। सब सिद्ध पुरुषों की ऐसी-ऐसी जगह में तप करने से तपस्वी लोगों का अचिरात् कृत-कृत्य होना कोई विशेष बात नहीं। प्रकृत गुफा को प्राकृतिक कहना कोई अत्युक्ति नहीं है, गह्वर के आगे दो सुन्दर आसन स्वामी जी ने सीमेन्ट के बनवाये हैं; हाल ही में एक छोटा सा कमरा गुफा के दाहिने पार्श्व पर भी स्वामी जी ने बनवाया है। ऐसे एकान्त स्थान में स्वामी जी प्रायः अकेले ही रहा करते हैं। गुफा से दो फरलांग की दूरी पर स्वामी जी ने एक निर्मलाश्रम भी स्थापित किया हुआ है जिसमें आश्रितों तथा शिष्यों का यथोचित प्रबन्ध है। करीब बीस पचीस वर्ष पहिले स्वामी जी इस निर्जन स्थान में तप करने आये थे। तब यहाँ रहने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। आना जाना नितान्त कठिन था।

श्री गुरु जी के आचार्य देव जगत्प्रसिद्ध स्वामी रामकृष्ण परम हंस के मनोरथ शिष्यों में से हैं। गुरु-कुल-वास के अनन्तर आपने हिमालय प्रदेश में गुप्त रूप से योगाभ्यास प्रारम्भ किया।

निरपेक्ष-वृति से निर्जन स्थान में रहना महापुरुषों का एक समुज्ज्वल-दृष्टान्त होता है। ऐसे जीवन का पाठक-गण स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

इस छोटी सी पुस्तक में मेरा अभिप्राय स्वामी जी की **जीवनी की अपेक्षा उनकी कुछ अमूल्य शिक्षाओं को ही दर्शाना है।** लगभग दश-बारह साल से स्वामी जी ने जिज्ञासुओं को उपदेशामृत देना यहाँ आरम्भ किया था। अतएव उनकी शिष्य वृति में मुझे कोई दश वर्ष हुये होंगे। तथा इस पुस्तक के प्रकाशक भाई वीरेश भी लगभग आठ साल से उनके सान्निध्य में रहते आ रहे हैं। तथा और भी उनके अगणित शिष्य-गण हैं। **इस पुस्तक में विशेषता से प्राप्त शिक्षाओं का संक्षिप्त विवरण है।** मुझे आशा है प्रेमी-पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। **यद्यपि महापुरुष को समझना वेदों के समान कठिन है।** तथापि सेवक अपने अल्प-ज्ञानानुसार ही यथा-शक्ति साहस कर रहा है। कृपा-वारिधि, सच्चे पिता गुरुनाथ की कृपा पर ही इसकी सफलता अवलम्बित है। जिनके अनुग्रह से मुझ जैसा मूर्ख बालक भी लिखने का साहस कर बैठा। धन्य है पिता जी आपकी असीम महिमा को।

इसके अनन्तर मैं इस पुस्तक के प्रकाशक स्वामि-भक्त भाई वीरेश तथा अन्य सहयोगियों को भी धन्यवाद देता हुआ गुण-ग्राहक पाठकों से व्याकरणीय अशुद्धियों के लिये नत-मस्तक हो क्षमा-याचना करता हूँ। क्योंकि बाल सभी लेखन नियमों से सर्वथा अपरिचित है। परन्तु जिस प्रकार माता अपने बच्चे का मुख देख कर व रोना सुनने से आशय समझ जाती है, उसी प्रकार पाठक सेवक के भावों को ही अधिक महत्व देंगे। तथा गुरु जी के इस प्रसाद-फल को प्रसाद-रूप से ही ग्रहण करेंगे।

विनीत

बाल

"प्रेम-शिक्षा"

इस भाग में श्री स्वामी जी के प्रेम-सम्बन्धी उदाहरणों का वर्णन है, **वे तो स्वयं प्रेम-पूर्ति हैं,** यद्यपि प्रेम-सागर स्वभावतः शान्त है तथापि लोक-कल्याणार्थ तथा शिक्षार्थ कृपा-समीरण से शान्त समुद्र भी कर्म-वीचियों से क्रिया-शील हो जाता है। प्रेमी-श्रोताओं के हृदय-मन्दिर में ज्ञान ज्योति जगाते हुए सरस-मधुर-वाणी से उन्हें हंसाते हुये स्वयं भी निष्पाप बालक की तरह खिलखिलाकर हंसने लगते हैं। आपका बर्ताव बालक, वृद्ध, ज्ञानी-अज्ञानी सभी से प्रेम-पूर्ण होता है जेसा कि आप कभी-कभी प्रसंग-वशात् कहा करते हैं कि प्रेम में कोई नियम नहीं होता, **प्रेमोन्माद स्वयं अपने आप को भी भुला देता है,** प्रायः आश्रम में सप्ताह यज्ञ भागवत् के हुआ ही करते

हैं। एक दिन की बात है कि आश्रम में इसी प्रकार एक ज्ञानयज्ञ की व्यवस्था थी। दूर-दूर के अनेकों भक्त गण उपस्थित थे। आपका विनीत बाल भी विद्यमान था। **एक सन्यासिनी माता भी श्रवणार्थ आई हुई थीं। जो नित्य-प्रति भोजन बनाती व प्रेम-पूर्वक खिलाती थीं ! मैं उनको माता जी कह कर बुलाता तथा वे भी प्रेम-वश बेटा कहकर मुझे सम्बोधित किया करती।** हृदय में अगाध वात्सल्य प्रेम था, कार्य-वश किसी अवसर पर वे मुझे तू अथवा तुम से भी बुला लेती। यह सम्बोधन किसी माननीय महात्मा को असह्य मालूम हुआ, तथा भरी मंडली में वे पूज्य स्वामी जी से इसका अनौचित्य बताने लगे। तब स्वामी जी ने यह कहते हुये कि "वे तो उनकी माता ही तो हैं" झगड़ा शांत किया।

एक दूसरा अनुभव मैं पाठकों के सम्मुख रखता हूँ कि मैं पहिले-पहिले ही गुरु-देव के पास आया था, मेरे साथ एक जिज्ञासु और थे। मेरी अवस्था अति शोचनीय थी। यह दश-वर्ष-पूर्व की बात है उस समय मेरी आयु लगभग पचीस वर्ष की रही होगी। गृह परिवार का त्याग करके भिक्षु भेष धारण कर लिया था।

सेतु-बन्ध-रामेश्वर से हरिद्वार तक पथ-प्रदर्शक गुरु देव की तलाश में यथाशक्ति उद्योग भी किया, परन्तु किसी न किसी प्रतिबन्ध से कहीं भी मन स्थिर न हुआ। गत कुम्भ-मेले में मैं हरिद्वार पहुँचा। वहाँ भी अनेक महापुरुषों से परिचय हुआ। मगर चित्त को यथोचित शान्ति प्राप्त नहीं हुई। निराशा से दिल कम्पायमान हुआ करता था। अच्छे अच्छे भोगपदार्थ भी नीरस और कड़ुवे जंचते। सांसारिक दुःखों का मूर्तरूप मुंहबाये सामने खड़ा रहता था। आहार, व्यवहार, भाषण, विनोदादियों से नितान्त उदासीन था। विजन-प्रदेश में अकेले रोते रहना मेरा स्वभाव सा बन गया था। बार-बार मेरी दीनता नयन-जल-रूप से बह जाती थी। अनेकों प्रेमी-स्वजनों को त्याग कर ईश्वर प्राप्ति के लिये किया हुआ यह त्याग मुझे अति संतप्त करने लगा। यद्यपि पूर्ण-वैराग्य से दुःख का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु मैं दुविधा के दलदल

में फंस सा गया, जिधर देखूं अन्धेरा ही अन्धेरा दीखता। चलते चलते भूख-प्यास सहते हुये प्रायेण शरीर व्याधियों और मन आधियों का घर हो गया। जिस प्रकार कोयला तेल आदि बिना गाड़ी का चलना असम्भव हो जाता है इसी प्रकार निराहार रहने से सभी इन्द्रियां दुर्बल होने लगीं। तथा शरीर रक्षा का भार पहाड़ सा मालूम होने लगा। निवास स्थान की समस्या तथा योग क्षेम की चिन्ता सदा लगी रहती। हरिद्वार के इस विशाल मेले का प्रभाव मेरे शांत व हीन हृदय पर न हो सका। एक-एक दिन युगवत् होकर मानों मेरी परीक्षा ले रहा था। वह दशा वर्णनीय न होकर केवल अनुभव से जानी जा सकती है। जिस शान्ति-देवता की खोज में इस दशा को पहुँचा वे भी अब और अधिक दूर छूट गये। रोने के अतिरिक्त और कोई चारा मेरे हाथ न रहा था। मेरी दीन-दशा पर कोई सहानुभूति दिखाता तो कई उपहास भी करते। कोई पढ़ने, कोई भ्रमण करने अथवा सेवा करने, काम करने या मंडलियों में शामिल होने का उपदेश करते। परन्तु मैं हां या ना कुछ भी निश्चयात्मकरूप से नहीं कहता था। इसी बीच एक दिन एक भाई ने ऋषीकेश चलने की प्रेरणा दी। ठीक दूसरे

दिन हम दोनों पैदल ऋषीकेश पहुंच गये और एक तरुवर के नीचे आसन जमाया। परन्तु हृदय-तंत्री दीन-हीन अवस्था को पहुंच चुकी थी। इस पुराण-प्रसिद्ध तपोभूमि ने भी अभीष्ट शांति न दी। दुःख से दिन निकल जाता था। इसके अनन्तर एक परोपकारी महात्मा हमारे पास आते ही बोले -भाई तुम यहाँ क्यों रहते हो, श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज के पास जावो। वे एक बहुत अच्छे योग निष्ठ महात्मा हैं, वसिष्ठ गुफा में रहते हैं। अस्तु दूसरे दिन हम दोनों गुफा में पहुंचे। रात्रि का आरम्भ समय था, कुछ वन-कुसुमों को लिये हम दोनों श्रीचरणों में नतमस्तक हुये। पिता जी बड़े प्रेम से मिले। भोजन के उपरान्त हमने अपनी अर्जी दे दी वह थोड़ी देर में बोले : तुम लोग कल सुबेरे खाना खाकर ऋषीकेश को रवाना हो जाओ तथा वहीं रहकर भजन-वन्दन किया करो। मेरे मन को बहुत कष्ट सा हो गया। प्रातः काल एक बार मैंने पुनः अपनी इच्छा प्रकट की, परन्तु स्वामी जी ने अपना निश्चय न बदला। साथी ने कहा, भाई भाग्यहीनों पर कौन कृपा करेगा। तब मैं अपने कर्म-दोष को रोया, अपने आप को धिक्कारता रहा, किसी का

खन्डन-मन्डन मैंने निरूपण नहीं किया। मैं असावधान था। निराश होकर कहने लगा, हे विधाता ! इस प्रकार भाग्यहीनों की सृष्टि करने से तेरा कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता था। अहो ? महापुरुष की दया भी भाग्य से ही मिलती है। नित्य-प्रति की तरह स्वामी जी स्नानादि से निवृत होकर गुफा का कपाट बंद कर ध्यान मग्न हो गये। मानो कपाट के साथ ही हमारा आशा-द्वार भी बंद हो गया। निराश हो गंगा किनारे पहुंच स्नान कर एक शिला-खण्ड पर बैठ गया। सामने ही गिरिशिखर पर बाल-भानु ने भी दर्शन दिया। गंगा मैया भी अपने सरस-अलाप से मन्द-मन्द बह रही थी। उसने भी प्रकट-रूप से मुझे कोई आश्वासन नहीं दिया। नेत्रों से अश्रु बह रहे थे कण्ठ गद्‌गद हो चला था। निराशा ने भी सुअवसर समझ गंगा मैया की गोद में समा जाने की प्रेरणा दी। तब अत्यन्त वेदना अनुभव करता हुआ गंगा मैया से प्रार्थना करने लगा कि माँ - अशरण की एक मात्र शरण तुम्हीं हो, मैं दीन-हीन किससे अपना दुखड़ा रोऊं। मेरे सारे अपराधों को क्षमा कर अपनी प्रशान्त गोद में मुझे छिपा लो। मैंने सोचा गंगा में अपना शरीर छोड़ने से पापों का उचित पुरुस्कार मिलेगा। अतः अपने अनेक कुकर्मों को स्मरण

करते हुये पश्चाताप करने लगा तथा क्षमा मांगने लगा। जीवन यात्रा समाप्त ही होने वाली थी तभी "स्वामी स्वामी" कहता हुआ एक ब्रह्मचारी दौड़ते हुये आ पहुंचे। मैं कुछ परिवर्तित सा हो गया। वे सहसा बोल उठे "महाराज आपको बुला रहे हैं"। आइये। मैं साथ हो लिया। सहृदयता तथा करुणा महायोगियों का एक लक्षण है। दयामूर्ति प्रत्यक्ष भगवान् गुरुदेव प्रसन्न और बरदायी हो चले थे। दुखियों को यदि परोपकारी महात्मा लोग भी आश्रय न दें तो उनको संसार में और ठिकाना बाकी क्या रह जाता है ? वे प्रेम से मुझे दीक्षा देने लगे और मेरा आशा–रवि भी हृदयाकाश रञ्जित करता हुआ उदय होने लगा। इस महान उपकार से उऋण नहीं हो सकता। धन्य है प्रभो ! आपकी अनाथशरण–तत्परता को।

इसके अनन्तर उस दिन मैं ऋषिकेश को वापिस हो गया तथा श्री गुरु-देव की आज्ञानुसार एक महीने पश्चात पुनः उनके पास आकर रहने लगा। एक दिन महाराज ने मुझे जंगल से पत्ते लाने की आज्ञा दी। मैं तत्काल ही पत्ते लेने चला गया, परन्तु

व्याघ्रादि वन-जन्तुओं का भय मुझे सताने लगा तथा भयभीत सा हुआ मैं इधर उधर देख रहा था। इतने में क्या देखता हूँ कि थोड़ी दूर ऊपर स्वयं स्वामी जी लाठी लिये हुए टहल रहे हैं। मेरा सारा भय रात्रि की तरह लुप्त हो गया। पत्ते लेकर जब मैं आश्रम में वापिस आया, तथा आते ही दूसरे ब्रह्मचारी से मैंने पूछा स्वामी जी ऊपर कहाँ गये। उन्होंने कहा स्वामी जी तो अंदर हैं वे कहीं नहीं गये। तब मैंने अपने मन में सोचा कि महापुरुषों की लीला अत्यद्भुत है, बाल के निर्मल हृदय स्थित भय का निवारण करने के लिये ही वंद्य-बापू ने यह लीला दिखाई। धन्य है भगवन्, आपकी आश्रित-परायणता !

एक बार निर्मलाश्रम में सप्ताह हो रहा था। साधु-सन्यासी गृहस्थ सभी प्रकार के भक्त लोग श्रवणार्थ आये हुये थे। श्रोता-गणों में एक वयोवृद्ध हष्ठ-पुष्ट विरक्त महात्मा भी थे। हम सभी आश्रित शिष्यों ने अज्ञानता-वश उन्हें गुरुदेव के समान आदर नहीं दिया। परोक्ष-दर्शी गुरुदेव इस बात को जान गये तथा आप उन्हें दण्ड-प्रणामादि सेवा करने लगे। स्वामी जी के इस महनीय अनुष्ठान से हम लोग अपनी गलती पर बहुत लज्जित हुये

तथा अपनी बुद्धि-हीनता पर पश्चाताप करने लगे। अतिथियों को देव-वत् पूजना आश्रम-वासियों का परम-कर्त्तव्य है यही गुरु जी की शिक्षा का सार था।

उसी समय एक दूसरा प्रसंग उल्लेखनीय है। आश्रम में पारायण हो रहा था। एक विद्वान सन्यासी भी पाठ कर रहे थे कि अर्जुन द्वारिका से लौट कर भगवान श्रीकृष्ण के स्वर्गारोहण की वार्ता को अपने बड़े भाई श्री युधिष्ठर महाराज से रो-रो कर सुना रहे थे ! अपने एक मात्र सहायक, प्राण-प्यारे, अनेक मन-मोहक कर्मों से हृदय को लुभाने वाले; अवसरोचित सभी दूत, सारथी, मन्त्री, अंगरक्षक आदि कर्म स्वयम् करने वाले, अनेकों आपत्तियों से बचाने वाले ज्ञान रूपी प्रकाश से मोहान्धकार का नाश करने वाले, मार्ताण्डदेव, भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि दुर्धर्ष महारथियों से भी विजय-प्रदाता, स्वयम् त्रिभुवन-पति, करुणा-निधान की लीलाओं का स्मरण कर प्रेम वश हो अर्जुन गद्‌गद हो विलाप कर रहा था "स्नेहसागर" स्वामी जी भी अर्जुन की विलाप-वार्ता को सुन भोले बालक के समान रो पड़े। कुछ समय तक भावाविष्ट हो बैठे रहे। सारे श्रोता-गण स्वामी जी के सारल्य को देख गद्‌गद हो गये। कुछ देर तक सभी भावना-सागर में निमग्न रहे। बाल-हृदय भी प्रेम प्रवाहित हो गया। और यह पावन संस्मरण मेरे

हृदय-मन्दिर में शिला लेखवत् अमिट हो गया। धन्य महापुरुष आपकी प्रेम-लीलाओं को।

चतुर्मास का समय था। मैं गंगा की दूसरी गुफा में था कि अचानक अकल्पित जल-प्रलय सा होने लगा। मैं स्वामी जी के पास पहुँचा ही था कि गंगा-माता विराट-रूप धारण करने लगी, और देखते देखते चारों ओर जल ही जल दिखाई देने लगा। गुफा के मार्ग बन्द हो गये मेरे सभी सामान यथा जल-पात्र, माला, पुस्तक आदि उसी गुफा में रह गये। मेरे लिये वहाँ पहुंचना कल्पनातीत था। मुझे स्वाध्याय आदि नित्य-कर्मों की चिन्ता सताने लगी। पूज्य गुरु-देव मेरे भाव को जानते हुये बोले "कहो बाल! आज क्या करोगे" मैं निरुत्तर था। तदन्तर मैं किसी सेवा में लग गया। थोड़ी देर में महाराज बाहर गये फिर आकर सारे सामान हंस हंस कर मुझे देने लगे। समय की भीषणता देख कर हमें एकाएक विश्वास न हुआ। उसमें भी गुरु-देव के वस्त्र पूर्ववत सूखे हुये थे। यह हमारे लिये अभी भी एक प्रश्न है। धन्य हैं गुरुवर आपकी लीला को।

मेरे आने से पहिले एक दूसरे सेवा-कुशल ब्रह्मचारी गुरुदेव की सेवा किया करते थे। एक दिन महाराज ने उन्हें डाकखाने में आये हुये रुपये लाने की आज्ञा दी। उन्होंने आज्ञा

पालन किया तथा रुपये लाकर गंगा जी में पानी पीने चले गये संयोगवश जेब से तीस रुपये के नोट गंगा जी में गिर गये, ब्रह्मचारी जी ने बहुतेरे हाथ पैर पटके, परन्तु निष्फल, गंगा जी की तरल तरंगों ने बलात् छीन ही तो लिये। गंगा मैया के इस कार्य से ब्रह्मचारी जी असन्तुष्ट व हताश हो डरते डरते स्वामी जी के पास पहुंचे। और सारा वृत्तान्त यथा-घटित स्वामी जी से निवेदन किया, सुनते ही श्री गुरुदेव खिलखिला कर हंसने लगे। तथा समझाते हुये बोले कि आप इसकी तनिक भी चिन्ता न करें। मैं पहिले प्रति-दिन गंगा माता को भोग लगाया करता था, कुछ दिनों से बन्द कर दिया था। उस ऋण से माता ने स्वयम् उऋण कर दिया। इस घटना को मैंने एक विश्वासी साधु से सुना था। स्नेह मयी माता भागीरथी जिस पर कृपा करती हैं वह सर्वगुण-सम्पन्न हो जाता है। धन्य है माता आपकी कृपा-शीलता को।

एक बार की बात है कि स्वामी जी के लिये साग सब्जी बनाने का कार्य मुझसे सम्पादित हुआ। मेरी कुछ लापरवाही से एक पत्थर का टुकड़ा सब्जी में पड़ गया। मैं स्वामी जी की सेवा करने के अभिमानी हुआ था। दूसरे ब्रह्मचारी जी ने उन्हें भोजन करवाया। दान्तों के अन्दर आते ही पत्थर चूर्ण-चूर्ण हो गया। तथा स्वामी जी को बड़ा कष्ट हुआ। तो भी उन्होंने किसी से कुछ

नहीं कहा। केवल इतना कहा कि दान्त टूटते टूटते बचा। लज्जित हो मैंने सोचा कि "अश्रद्धया हुतं दत्तमिति।" अर्थात श्रद्धा रहित किया हुआ उपचार असत् रूप है। उससे तो न करना ही अच्छा है। परन्तु फिर भी प्रभु प्रेम वश सारे अपराध क्षमा कर देते हैं। धन्य है आपकी गम्भीरता और प्रेम को। जिनके प्रभाव से अन्धेरा प्रकाश में और दुःख सुख में परिणित हो जाता है। अपमान भी प्रशंसा हो जाता है। आपकी बारम्बार जय हो।

श्री स्वामी जी का मुख्य आहार दूध है, कभी-कभी दूध भी हम लोगों की असावधानी से नहीं मिलता। क्योंकि कभी बिल्ली हाथ मार जाती, कभी गिर जाता, फिर भी उस दिन स्वामी जी में स्वाभाविक शांति यथा पूर्व बिराजती रहती। परिचित, अपरिचित, धनी, निर्धन, विद्वान, मूढ़ अथवा कोई भी जो स्वामी जी के पास आते हैं समानरूप से सम्मानित होते हैं। स्वामी जी शिशुओं के समान निष्पाप व अभिमान रहित हैं। उनको अपनी विद्या, तप, शील, दक्षता आदि का तनिक भी गर्व नहीं है। फल-पूरित वृक्षों की भांति सदैव नम्र रहते हैं। भाग्यवान् सत्संगी सेवकों का अनुभव है कि स्वामी जी माता पिता से भी बढ़ कर हित-चिंतन करते रहते हैं। यद्यपि यह बात प्रथम सभी की समझ में यथावत् नहीं आती। जैसे बच्चा भी कभी-कभी चपलता वश

माँ बाप का भी ताड़न पात्र हो जाता है और उन पर दोषारोपण भी करने लगता है, परन्तु जब वह विचार शील हो जाता है तब माँ बाप की दी हुई ताड़ना को अपने हित में समझने लगता है। तथा उनकी दूरदर्शिता की प्रशंसा करता है। ठीक ऐसे बच्चे की तरह हम आश्रितों को भी समय-समय पर अनुभव हुआ। आश्रितों की हर प्रकार से रक्षा करना महापुरुषों का धर्म होता है। इसी रक्षा धर्म को दृष्टिगोचर रखते हुये स्वामी जी कभी-कभी हमको दण्ड भी दिया करते हैं। सन्यासियों के लिये शास्त्रों में प्रमाण है कि "बलोन्मत्त पिशाचवत्।" (बल से उन्मत्त व्यक्ति पिशाच के समान होते हैं) अतः सन्यासी को पिशाच की तरह निर्जन स्थान में रहना चाहिये। क्योंकि मनुष्य स्वभाव-वश शीघ्र ही बन्धनों में उलझ जाता है और योग वहीं रुक जाता है। तथा उपाधियों के जाल में दुःख अवश्य भोगना पड़ता है। फिर भी ऐसे महापुरुषाचार्य लोग कृपा वश गुरुकुल प्रथाओं को चला ही रहे हैं। मूर्खतावश जैसे कोई आप तो स्वयम् दुःख उठाते ही हैं दूसरों को भी दुःखी कर देते । और स्वयम् अज्ञान निर्मित मनोराज्य के अमावस्या के चन्द्रमा के सदृश बादशाह बन जाते। और इस प्रकार अज्ञान की वृद्धि से गुरु लोग ही चिन्तित होते। इससे सर्वत्र दुरभिमान का बोल बाला

होता। परन्तु अरे ! दुरभिमान तू एक गरीब अभागे को बादशाह की गद्दी कहाँ से लाते। तथा तेरा इसमें क्या फायदा है। तेरी चालों से महामूर्ख भी पण्डित मन्यमान हो जाता है। तू बड़ा बन्दर है। अनेकों सिंह-सदृश वीर भी तेरे वश हो श्वानवत् आचरण करने लगे। हे विधाता ! ऐसे दुरभिभाव की सृष्टि कर तेरा कौन सा प्रयोजन सिद्ध हुआ होगा। तू ही जाने। दत्तात्रेय-संहिता में "अभिमानम् सुरापानमिति" कह कर अभिमान की व्याख्या की गई है कि अभिमान का नशा शराब से भी बढ़कर होता है। सर्व-सम्पन्न सुखी मनुष्य को अन्धा, बहिरा, लंगड़ा अथवा दुःखी कर देना अभिमान के लिये बहुत आसान होता है। धन्य है गुरुदेव ! जिनकी कृपा से अभिमान रूपी रोग क्षण-मात्र में दूर हो जाता है। आप जैसे महात्माओं के धारण करने से ही धरती अपनी क्षमा को नहीं छोड़ती। भगवान् के भी प्रियातिप्रिय आप की बारम्बार जय हो।

हृदय-नाथ गोपीनाथ के समान हमारे दिव्य पुरुष भी गो-ब्राह्मण की सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं। स्वामी जी की गाय जिसे वे "राधा" "राधा" कह कर पुकारते हैं। त्रिलोक-जननी परमेश्वरी स्वयम् गौ-रूप से अवनी-तल पर अवतीर्ण हुई हैं। चारों वेद उसके चार स्तन हैं। ज्ञानामृत-रूप दूध राधा-मैया अपने

लाल को पिलाया करती है। परम-पूज्य गुरुदेव भी माता-माता कह कर स्वयम् कभी-कभी उसे चराने जाते। त्रिभुवनपति गोपाल श्रीकृष्ण भगवान् भी प्रेम-वश स्वयम् ग्वाले बन जाते। गो-सेवा से सत्य-काम आदि पौराणिक आचार्यों ने चारों पदार्थ अनायास ही प्राप्त कर लिये थे। गो-सेवा भी बिना कृपामयी गोमाता की कृपा से नहीं मिल सकती। निष्कपट भाव से सेवा करने से गोमाता-राधा निःसन्देह ज्ञानामृत पिलावेगी। गो को गाली देने से महा अनर्थ होता है। उस को देवी समझ कर उसकी यथोचित सेवा करना ही गुरुदेव का अभिप्राय है। तभी सकल मनोरथ सिद्ध होते हैं।

पिछले साल की बात है आश्रम में श्रीमद्भगवत् का सप्ताह पारायण हो रहा था। एक दिन सभी शिष्य-गण घास काटना भूल गये। बहुत से लोग थे, सभी आहारादि से निवृत हो कर भ्रमण करने इधर उधर निकल गये। मैं ज्वर-ग्रस्त होने से विवश था, विवशता में सेवा कार्य का न होना स्वाभाविक था। उस समय मैं रोग-शय्या शायी था। स्वामी जी सभी ढंग देख कर किसी को आज्ञा न देते हुये स्वयम् दरांती लेकर घास काटने चल दिये। महापुरुषों का यही नियम बड़ा विचित्र होता है। वे काम कराने वाले तथा करने वाले समयानुसार स्वयम् बनते रहते हैं। अर्जुन भगवान का दास था तब वे अर्जुन के सारथी क्यों बने।

स्पष्ट है जैसे भगवान् भक्त-वत्सल होते हैं भक्त भी उसी प्रकार भगवद्-वत्सल होते हैं यह नियम अटल व प्राकृतिक है। श्री गुरु-देव की भी यही चेष्टा मैंने देखी, तथा मैं भी येन केन प्रकरेण साथ साथ हो लिया। तथा स्वामी जी को वापिस करने के लिये अनेकों प्रयत्न तथा प्रार्थनायें की, परन्तु वे तो अत्युत्साह से ऊपर चढ़े चले जा रहे थे। मेरी बात न मानी, बल्कि मुझे ही यूं कहने लगे कि तुम बीमार हो आराम करो। मैं शीघ्र ही घास लेकर आता हूँ। और किसी से कुछ न कहना। परन्तु मैं भी नहीं माना। निदान हमने मिलजुल कर घास काटा, और मैं घास का गट्ठा लेकर आश्रम में पहुँचा। जब यह घटना प्रकट हुई तो सभी पश्चाताप करने लगे तथा लज्जित हुये। धन्य है गो माता जिसकी सेवा करने को आत्माराम मुनि लोग भी अहो भाग्य समझते हैं।

कई साल पहिले की बात है तब तक मुझे महाराज का

पावन-सानिध्य उपलब्ध नहीं हुआ था। आस पास के गाँवों में विशूचिका फैली हुई थी। बहुत से लोग अकाल में ही काल-कवलित हो गये। अन्नकाल भी इन्हीं दिनों की प्रतीक्षा कर रहा था। ठीक है विपत्ति चारों ओर से आती है। अस्तु सारा वातावरण क्षुधा व विशूचिका से क्षुब्ध हो उठा। अतएव ग्रामीण गाँव छोड़कर श्री स्वामी जी के पास आये। तथा अपना सारा दुःख उनसे निवेदन किया। सहज कृपालु गुरुदेव दयार्द्र हो उठे। तथा उन लोगों को अपने आश्रय में रखकर भरण-पोषण तथा चिकित्सा करते रहे। दुर्दिन व्यतीत होने पर सभी अपने-अपने घरों को लौट गये। निष्काम-भाव से परोपकार करना शुद्ध प्रेम के बिना सम्भव नहीं होता। गुरुदेव ! आपकी महिमा अपार है।

कुछ दिन पहिले की बात है कि एक मार्जार-वीर (बनविलाव) आश्रम-परिशोधनार्थ कभी-कभी चक्कर लगाया करता। चाल ढालादि लक्षणों से छोटा व्याघ्र जैसा लगते। चूहा, मुर्गा, सर्प आदि प्रजागण इनसे सदैव भयभीत रहते। जरा सी चूक हो जाने पर प्राणों से हाथ धो बैठते। ये व्याघ्रानुज महोदय, एक दो बातो में अपने अग्रज से भी आगे बढ़े हुये थे। क्योंकि ये अवसर-वादी कभी साधु बन जाते तो कभी चोर। तथा कभी अतिशय प्रेम प्रकट करते हुये अतिथिरूप से आश्रम में आते। तब

मर्यादानुसार दूध-रोटी आदि से सन्तुष्ट न होकर निज हस्त कौशल दिखाते, इधर उधर उत्पात मचाना अपना स्वायत अधिकार समझने लगे। एक दिन स्वामी जी खाना खा रहे थे, ये भी पास ही बैठे स्वामी जी द्वारा प्रदत्त पदार्थों का रसास्वादन कर रहे थे। स्वामी जी प्रत्येक भोज्य पदार्थ का भोग विलाव-भगवान को अवश्य लगाते। वे भी समय-समय पर कृतार्थ सूचक-शब्दों में म्याऊं म्याऊं कर देते। और कभी हाथ मारने को भी उद्यत होते, अतएव मैंने वीरेश भाई से उसको दूर हटाने के लिये कहा ज्योंही वे उसे हटाने लगे कि सर्वत्र-आत्मदर्शी गुरुदेव नहीं नहीं कहते हुये वैसे रहने का आदेश देने लगे। तब "यो मां पश्यति सर्वम्" कह कर मैं गुनगुनाने लगा। अर्थात् ज्ञानी लोग "आत्मैवेदं सर्वं" के अनुसार सभी में आत्म-दर्शन करते हैं। यही साम्यावस्था महापुरुषों की चरम सीमा है। धन्य हे प्रेम-देवता ! तेरी कृपा से जीव को अतीव शांति मिलती है।

प्रेम-गाथा के प्रचारक श्रीमान् वीरेश जब पहिले पहल स्वामी जी के पास आये तो उस समय वे बालक ही थे। एक वृद्ध महात्मा इनको लेकर स्वामी जी के पास आये। इनको देखकर गुरुदेव बहुत प्रसन्न हुये तथा लक्षणों को देखकर कहने लगे कि यह बहुत अच्छा लड़का है। खाना खिलाने के पश्चात् बोले तुम

कोई काम करके माता पिता की सेवा करते रहो, अन्यथा वे अप्रसन्न व दुःखी होंगे। परन्तु बालहट ठहरा। वे सभी से रोने बिलखने लगे। तब हम लोगों ने भी उनके पक्ष में गुरुदेव से निवेदन किया। तब कहीं वे मान सके। दीनभाव से जो कोई भी स्वामी जी से जो कुछ माँगते हैं दया-सागर स्वामी जी उनकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। यह उनका स्वभाव है। लगभग तीन चार साल स्वामी जी के साथ रहकर **हमारे बीरेश भाई गुरुदेव की आज्ञा से अब सरकारी नौकरी में लग गये।** फिर भी ये स्वामी जी के निकटतम शिष्यों में से हैं।

और भी अनेक प्रेम सम्बन्धी उदाहरण लिखने को हैं किन्तु स्थानाभाव के कारण अधिक नहीं लिख सकता, पाठकगण क्षमा करेंगे। विज्ञेषु किमधिकम्।

इति प्रेम-शिक्षा भाग समाप्तः।

"अथ कर्म शासन"

इस भाग में स्वामी जी के कर्म समबन्धी कुछ शिक्षाओं का संक्षिप्त वर्णन है। भगवान् श्रीकृष्ण की गीता में कही हुई सुन्दर सूक्ति को प्रायः स्वामी जी हम आश्रितों को सुनाया करते हैं यथा- "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन, मा कर्म-फल-हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि"। तथा समयानुसार महाराज कहते हैं कि आलस्य ही तमोगुण है तथा यह सन्यास का लक्षण नहीं है। कर्म-विमुख, विषयासक्त मनुष्य को पशुवत् समझना उचित है। कर्म-विमुखता और विषयासक्ति का मेल साधु गृहस्थी किं बहुना सभी के लिये हानि-कारक होता है। नैराश्य-पथ के पथिक आत्माराम महापुरुष भी केवल कल्यार्थ कर्म किया करते हैं। वे यदि न भी करें तो उन्हें कोई दोष नहीं लग सकता। परन्तु आलसी कर्म-हीन मनुष्य का आलस्य दुर्बला गर्भिणी के समान सदैव दुःख-दायी होता है। इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त चिरतार्थ होता है।

यथा एक धनवान मनुष्य था। कर्म-वशात् वह अति निर्धन हो गया। साथ ही वह सिरदर्द से भी पीड़ित हुआ। यहाँ तक कि दर्द के मारे उसे नींद भी नहीं आ सकती थी। उसके बच्चे तथा स्त्री भी शीत-ज्वर ग्रस्त हो गये। अतः विवश हो घर छोड़कर परदेश में रहने लगा, वहाँ घर का मालिक रोज-रोज किराया माँगने आता। उनके पास था ही क्या, जो कुछ था भी वह भी एक रात आग लग जाने से स्वाहा हो गया। इसी दर्मियान आग से सताया हुआ काला साँप आया और उद्वेग-वश उस अभागे निर्धन मनुष्य को काट भी गया। फिर भी प्राण जल्दी न निकलता। ऐसी विषमावस्था में मनुष्य कैसे रह सकता है उसका अनुभव विचारवान ही कर सकते हैं।

इस दृष्टांत में गृह-नाथ को आलसी मनुष्य समझना चाहिये। यह जीव ईश्वरांश होने से पहिले धनी था ज्वर पीड़ित जो उसकी स्त्री थी वह अज्ञानमयी मति है। उनके बच्चे अनेक प्रकार की कामनायें हैं। और कामनाओं का पूरा न होना ही उनका ताप है। उनका परदेश निवास ब्रह्मभाव में न रहकर जीव भाव से विचारना है। द्वितीय तथा घर का मालिक पूर्व-संचित कर्म हैं। किराया पूछना दुःख देना है। निर्धन होना संग-दोष से अपने महनीय भाव को त्यागना है। संग तो अज्ञान रूपणी स्त्री का

समझना चाहिये गृह-नाथ का सिरदर्द चिन्ता ही है। वस्त्रों का अभाव शुद्ध विचारों की कमी है। भोजन का अर्थ आनन्द का है। वह पंच-भूत निर्मित यह शरीर ही है। अचानक घर में आग लगना बुढ़ापे का आक्रमण है। सबका जलना अतृप्त होना है। आग के साथ काले साँप का आगमन मृत्यु की सूचना है। उद्वेग से काटना महा भय देना है। फिर भी प्राण न निकलना मुक्ति न मिलना है। ये सारी आपत्तियाँ आलसी मनुष्य को अवश्य घेरती हैं। आलस्य और उदासीनता में आकाश पाताल का अन्तर है। आलस्य तमोगुण-वृद्धि से होता है तथा काम करने से जी चुरवाता है। उदासीनता शुद्ध सन्यास से आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् प्राप्त होती है। अतएव आलस्य और उदासीनता में अन्धेरे और प्रकाश का अन्तर है। यद्यपि दोनों कर्म त्याग करवाते हैं। अस्तु-परामर्थ सेवी को आलस्य से सदैव चैतन्य रहना चाहिये। स्वामी जी का भी हमारे लिये यही आदेश है कि शरीर व मन से हर समय कुछ न कुछ सद्व्यवहार अवश्य करते रहना चाहिये। क्योंकि निट्ठले बैठे रहने से दोनों दूषित होते हैं, तथा इसी प्रकार नियमित पवित्र काम करने से दोनों पवित्र होते हैं। अस्तु आलस्य महा-मोह है, अन्धकार है, तमोगुण है। उसमें जो क्षणिक सुख है वह केवल भ्रांति मात्र है। "तमसि प्रलयं गत्वा मूढ़योनिषु जायते" अर्थात् मोहालस्य-रूपी तमोगुण की प्रधानता में शरीर-त्याग करने से

प्राणी अधोगति को प्राप्त हो मूढ़ जड़ योनियों में जन्मता है। श्रुतियों में "उत्तिष्ठत" शब्द का प्रयोग मोहालस्य की घोर निद्रा से जगाना है। परन्तु आलसी के लिये सदुपाय भी भार-रूप हो जाता है। जिससे वह दूसरों को भी दुःख देता है। बाल-स्वभाव वश पहिले पहल हम लोग भी ठूंस ठूंस कर खाते जिससे बहुत देर तक आलस्य आ घेरता। इस प्रकार की तमो-वृत्तियों को दूर करने के लिये स्वामी जी हम से शारीरिक परिश्रम जैसे बालू लाकर आश्रम को समतल करवाना, गड्ढे इत्यादि खुदवाना, बगीचा बनाना तथा साग सब्जी बोना आदि कृषि-कर्म स्वयं स्वामी जी हमारे साथ रह कर सिखाते रहते। यदि कोई बहुत ज्यादा दिन में सोया हुआ मिल जाता तो कभी दरवाजा बन्द कर देते तब वह जागने पर भी कुछ देर और दण्ड पाता। "युक्ताहार-विहार" वाले नियम का पालन करना हमारे प्रकृत-पुरुष का मत है। आवश्यकता-पूर्ति के लिये कर्म करो; खावो, बोलो, परन्तु अनावश्यक व्यवहार दुःख-दायी होता है। यम, नियम बिना योगारूढ़ होना असम्भव है इस बात को गुरुदेव स्वयम् आचरण करते हुये हमें भी पढ़ाते हैं। अच्छे से अच्छे पदार्थ

भी आप नियम विरुद्ध हो नहीं खाते, विशेष प्रकार की मिठाइयाँ आने पर भोग-मात्र लेकर सबको बाँट देते। अनावश्यक घी, मीठे से आप बहुत चिढ़ते हैं। आपका मत है कि भोजन स्वस्थ रहने के लिये खाया जाता है। अमिताहार से कभी भी सुख व स्वास्थ्य नहीं बढ़ सकता, बल्कि वह भी एक रोग-रूप है। इसका कारण तृष्णा है ऐसा स्वामी जी कहा करते हैं। कुछ दिन व्यतीत हुये एक वैष्णव साधु महाराज के पास रहते थे, वे केवल कन्दमूल खाया करते थे। दिन प्रति दिन स्वामी जी से सत्संग भी किया करते। एक दिन स्वामी जी, मुझसे बोले, "बाल ! देखो तो वे क्या खाते हैं। खाने लायक कन्दमूल तुम भी उनसे सीख लो" अच्छा कहकर मैं उनके साथ गया, उन्होंने भी कृपा करके एक कन्द लगभग अंगुलीभर मोटी और फुट भर लम्बी बतादी जो खाने में सुस्वादु, मृदु और उपयोगी है। आगे गुरु-वर की कृपा से मैं कई प्रकार के कन्द-मूलों को पहिचान गया। एक दिन एक बूटा मुझे दिखाते हुये बोले "इसे पत्थर पर रगड़ कर पी लो भूख प्यास नहीं लगेगी, जंगल में रहते हुये यह सब कुछ सीखना चाहिये" निरपेक्ष रहने से बल भी बढ़ता है। अस्तु और भी सब्जी के योग्य पत्ते, बुखार की दवा, आँख की बीमारी की दवा आदि कई प्रकार की जड़ी-बूटियाँ आपने मुझे बताईं। यह परम-पूज्यनीय गुरुदेव की ही कृपा थी। अध्यात्म-विद्या के अतिरिक्त स्वामी जी और भी सद्गुणों को ग्रहण

करने की प्रेरणा करते रहते हैं। **दैव वश स्वामी जी से बिना पूछे, मैंने पूज्य-पाद श्री निहाल गुरुदेव अम्बाला वाले से संस्कार कर्म करवा दिये।** जिसकी अधिकार सीमा से मैं सर्वथा वंचित था। यद्यपि परमार्थ में दोनों मार्ग समान हैं परन्तु मर्यादा का उलंघन करना उचित नहीं। सत्य का पालन सबको सुखदायी होता हैं क्योंकि तन, मन, धन सभी गुरुदेव का होता है, उनको अपना समझने वाला अविवेकी तथा क्षुद्र है। सब कुछ गुरु को अर्पण कर, और उनका ही समझ कर देहाभिमान को तिलाञ्जलि देनी ही यथार्थ मुक्ति है। अहं-भाव व शरीराभिमान से दुःख होता है, अतः यह जानते हुये विचारवान कभी धर्म-च्युत नहीं होते। अथ मैं पश्चात् स्वामी जी के पास पहुंचा, सब कुछ जानते भी कृपासिन्धु गुरुदेव ने मुझ सरीखे बाल का तिरस्कार नहीं किया, कुछ असंतुष्ट तो अवश्य हुये, और इस अनुचित काम के दोष बहुत दिनों तक समझाते रहे कि विश्वास-वञ्चना न करना। फिर भी श्री गुरुदेव पूर्ववत्प्रेम कर रहे हैं। तथा उपदेश देते हैं कि विश्वासघात न करना, कपट न करना, धोखा न देना, ये गुण साधक के लिये अत्यावश्यक हैं। महामाया की लीला अचिन्त्य है।

भाई वीरेश आश्रम में कुछ न कुछ काम अवश्य करते

रहते, यहाँ तक भोजनोपरांत तनिक विराम न करते। तब दयानिधि गुरुदेव अप्रसन्न होते तथा वही "युक्ताहार-विहार" का उपदेश दिया करते। उन्हें लोभ छू तक नहीं गया। परन्तु लौकिक व्यवहार को यथोचित रीति से करते तथा करवाते हैं। वे दुरुपयोग के कट्टर विरोधी हैं। **एक दिन वीरेश भाई ने स्वामी जी से छिपकर कुछ पिन्डालू अपने लिये बनाए, जब कि स्वामी जी उनको पहिले भी मना कर चुके थे क्योंकि उन्हें बुखार के साथ साथ अतिसार की भी बीमारी थी, अतएव उन दिनों औषधि सेवन भी कर रहे थे। जब स्वामी जी को यह बात विदित हुयी तो उन्होंने वीरेश भाई को बुलाकर एक कमरे में बंद कर दिया। फलतः पुनः ऐसा न करने को वचन बद्ध हुये, तब बाहर निकाले गये। धन्य है महापुरुष का लीला-नाटक।**

नियमित सात्विक भोजन साधक को अवश्य चाहिये, बहुत खाने व गरिष्ठ भोजन से भजन तो दूर रहा, काम भी नहीं हो सकता, यह सभी अनुभव सिद्ध हैं। बहु भोजी से शारीरिक

परिश्रम लेते हुये स्वामी जी बहुत प्रसन्न होते हैं। यहाँ तक कि यदि कोई भूत-प्रेतादिक से पीड़ित व्यक्ति उनके पास आता है तो स्वामी जी औषधि देते हुये कुछ न कुछ शारीरिक व्यायाम की सम्मति भी देते हैं, क्योंकि यह सभी व्याधियाँ अधिकतर आलसियों को ही हुआ करती हैं। कर्म-दक्षता अथवा कार्यकुशलता एक सच्ची विभूति है। यह बन्धन का कारण नहीं माना जाता। "न कर्मणामनारम्भा न्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" इस मन्त्रार्थ से स्वामी जी पूर्ण परिचित हैं।

एक बार घड़ी की चाबी देते हुये स्वामी जी हँसकर वीरेश भाई से बोले कि यह बात मैंने तुमसे ही सीखी है। अभी भी मैं पढ़ता रहता हूँ। अस्तु सत्य ही है **गुण-ग्राहकता महापुरुष की पहिचान है। स्वामी जी के इस गुण से स्पष्ट हो जाता है कि उत्कर्षोऽस्तु अर्थात् शिक्षा सबसे ग्रहण कर लेनी चाहिये। पूर्णरूप महापुरुषों का व्यवहार केवल लोकानुग्रह है, स्वयं-साधक कृत कृत्य मानने से तो अज्ञानी ही रहना पड़ता है।**

उद्योग अथवा कर्म दो प्रकार के होते हैं। पहला

सकाम-कर्म दूसरी निष्काम-कर्म। सकाम-कर्म का फल बन्धन है और निष्काम-कर्म से मुक्ति मिलती है। फल की आशा से किया हुआ कर्म सकाम और फलाशा के बिना विहित-कर्म निष्काम-कर्म कहलाता है। पुत्र, कलत्र, धन, मान, व स्वर्ग-प्राप्त्यर्थ जो अनेक प्रकार के नित्य नैमित्तिक याने यज्ञ, दान, व्रतादि शुभ-कर्म भी किये जाते हैं, वे सकाम कहलाते हैं। तथा इस पथ के पथिक दक्षिण-मार्गी कहलाते हैं अर्थात् उनके फल-रूप वे "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं" के अधिकारी होते हैं तथा शास्त्रों में अराज, विराज, विराट आदि नामों से वर्णित हैं। सौ अश्व-मेघ-यज्ञ करने से देवराज का पद मिलता है। इसी प्रकार पुत्र-कामेष्ट से पुत्र और कुरुक्षेत्र में सूर्य-ग्रहण के समय दान देने से स्वर्ग प्राप्त होता है। विधि-पूर्वक सर्वस्व-दान ब्राह्मणों को देने से स्वर्ग प्राप्ति होती है, इत्यादि उदाहरण सकाम-कर्म के हैं। ऐसे सकामी पुरुष चन्द्रलोकादि स्वर्ग-सुखों को भोग कर पुनरावर्तन-शील संसार को प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भगवतगीता में इस गति को कृष्णाभिधान कहा गया है। तथा ईशा-वास्य का प्रख्यान है कि "अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।" अर्थात् अविद्या रूप सकाम कर्मोपासक अज्ञानान्धकार को प्राप्त होता है। भोग प्रधान स्वर्गादि-लोकों में भी परस्त्री दर्शन, भोगलालसा, वैषम्यता, असूया आदि, दुःख के कारण हो जाते हैं। अतः इस लोक में मुमुक्ष

की भोगेच्छा रखना भारी भूल है। "आशा ही परमम् दुखं इह चेदवेदी दथसत्यं।" इसी जन्म में ज्ञानी बनो अन्यथा विनाश ही विनाश है। अज्ञानी पुरुषों का पाप उनका दुःख का कारण बन जाता है। कर्म फल-रूप दुःख भोगने के लिये बारम्बार जन्म लेते व मरते रहते हैं। इसी प्रकार सकामी पुरुष भोगादि नश्वर सुखों की प्राप्ति कर बार बार जन्म लेते व मरते हैं। कर्म संस्कार से वासना और वासना से कामना उत्पन्न होती है। और कामनांकुर ही जन्म-वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। "अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्य त्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।" के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि सकामियों को अनिष्ट (दुःख) इष्ट (सुख) और मिश्र (मिश्रित) तीन प्रकार से कर्म-फल मिलते हैं परन्तु ज्ञानवान त्यागी पुरुष उन्हें नहीं पाता।

अस्तु गुरुदेव भी हमें बुद्धिपूर्वक कर्म करने की आज्ञा देते हैं, तथा योगः कर्मसु कौशलम्, ऐसे परमार्थ को प्रयोग में लाने की प्रेरणा करते हैं। वे कहा करते हैं कि हमारे गुरुलोग भी इसी प्रकार लोक-कल्याणार्थ कर्म किया करते थे। यदि कृत-कृत्य महापुरुष ही स्व-कर्म न करते तो क्या साधक शिष्यगण आलसी न बन जाते ? मोहवश मैं भी पहिले सेवाकार्य से उदासीन रहता। आश्रित-वत्सल श्री स्वामी जी चेताया करते कि तुम बड़े परमहंस बन गये तो मुझ

जैसे साधारण साधु के पास रहने का आपका क्या प्रयोजन है। हम भी अपने को परमहंस नहीं समझते। ऐसी परमार्थ सम्बन्धी उपदेश सुनने पर भी मैं कभी कभी दुःख अनुभव करता। कभी उनकी आज्ञा बिना इधर उधर घूमने चला जाता। परन्तु कुछ देर के वियोग से ही स्वामी जी के दर्शनों की प्रबल इच्छा हो उठती। अतः उनके पास आता रोता बिलखता। वे तत्क्षण ही सारे अपराध भूल जाते। अति प्रेम से मधुर-वाणी कहते हुये हँस देते। उनके पावन हृदय में प्रेमरूपी अमृत भरा पड़ा है। उनका अभिप्राय झूठी बड़ाई से नहीं रहता। अहो ! शिव जी के मानसरोवर के समान कृपासिन्धु सदैव कृपा पूर्ण रहते हैं। उनकी अगाधता की सीमा कौन जानता है। यथा हंस मानसरोवर में बड़े प्रेम से विचरता है, परन्तु कौवा जा भी नहीं सकता। धन्य है महापुरुष। नानक देव ने ठीक ही कहा है कि "नानक साधु प्रभु भेद न पायी" यह आप्तवाणी अत्यन्त आदरणीय है। आश्रितों के कल्याणार्थ हमारे प्रकृत-पुरुष भी साम, दाम, दण्ड, भेद चारों नीतियों का प्रयोग करते हैं। उनके सत्संग में रहने

वाले विद्वान लोग इस बात को भली भाँति जानते हैं।

एक समय की बात है कि स्वामी जी ने किसी प्रकार मेरी मूर्खता का मुझे समुचित दण्ड दिया परन्तु मैंने मूर्खतावश अनुचित माना। स्वामी जी उस समय निर्मलाश्रम में थे। मैं सोने को गुफा में जाया करता था। अतएव सायंकाल सूर्यास्त समय गुफा में पहुँचा। श्री स्वामी जी को नमस्कार करने के उपरान्त मन में सोचने लगा कि यह अन्तिम नमस्कार है। अब कभी भी स्वामी जी के पास नहीं आऊँगा। गुरुदेव ने आते समय दूध केला बंदा मुझे दिये। परन्तु मैं प्रसन्न न था। मेरी मूर्खता वे अच्छी तरह जानते। तथा मेरे विचार व निर्णय भी स्वामी जी ताड़ गये। परन्तु अज्ञान ही दुःख का कारण है। अस्तु दूसरे दिन प्रातः काल ही मैं आँख बचाकर भाग गया। गंगोत्री, यमुनोत्री आदि धामों की यात्रा करने लगा। लगभग तीन चार मास बीत गये। इतने ही समय में मेरा वैराग्य श्मशान की राख बन गया। हार मान कर फिर स्वामी जी के पास आया तथा नमस्कार किया। अपने पावन-चरण-कमल से मेरी पीठ का स्पर्श करके हंसते हुये श्री गुरुदेव बोले कहो ! कहाँ गये थे। मेरे हृदय में तो कोई विरोध-भाव नहीं, इसलिये कोई भी मुझे नहीं छोड़ सकता। तब अपने हाथ से भोजन परोस कर मुझे खाना खिलाया। उस दिन आश्रम में भण्डारा था। अस्तु प्रेम-पूर्वक

प्रसाद लिया व सुख पाया। हम बाल-मति बालकों ने एक बार नहीं अपितु सैकड़ों बार अपराध किये। फिर भी दीनानाथ सब भूल जाते। परन्तु समय-समय पर शिक्षाओं द्वारा हमें सतत् जागृत रखते हैं।

एक दिन की बात है कि रात के समय श्री स्वामी जी निर्मलालय की पावन-कुटीर में बैठे थे। फलाहार हो चुका था। बात चीत के दौरान में श्री गुरुदेव बोले क्यों बाल, तुम फलां आदमी को जानते हो ? मैंने कहा नहीं महाराज। उन्होंने पुनः कहना आरम्भ किया। एक लड़का मेरे साथ बहुत दिनों से रहता था, जब पहिले पहल मेरे पास आया तो बच्चा ही था। हर एक काम प्रेम से करता। भोजन बनाने में बड़ा निपुण था। मैं उसको साथ साथ लखनऊ आदि स्थानों में ले जाता, जिससे बड़े-बड़े लोग भी उसका बहुत सम्मान करते। अतः उसने सोचा बड़े-बड़े लोग भी जब मेरा इतना आदर करते हैं तो मैं एक साधारण साधु कैसे हो सकता हूँ ! अतः धीरे-धीरे पूर्णतया अभिमान के वशीभूत हो गया। यहाँ तक कि छोटे से छोटा काम करने में भी अपमान अनुभव करता। तब मैंने उसे जाने की आज्ञा दी। देखो महापुरुष भी छोटा से छोटा काम करते नहीं हिचकते। वर्ना त्रिभुवन पति साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण धर्म-पुत्र युधिष्ठर के यज्ञोत्सव में

अतिथियों के पाद-प्रक्षालन का काम स्वयं क्यों करते। अपनी शिक्षा को जारी रखते हुये स्वामी जी बोले "भारत पूज्यनीय बापू कई बार लोक-सेवा में भंगियों का भी काम करते। उन्हीं के उद्धार में उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। वे अपने को भंगी भी कहा करते। कई लेखों भाषणों और प्रार्थना सभाओं में वे कहा करते असली भंगी होना महा-कठिन है। यहाँ असली भंगी का अभिप्राय निष्काम लोक सेवक से है। धन्य, धन्य हैं, भारत के बापू जी। उनकी महनीय जीविनी वेद रूप है। बाल ! उनकी आत्म कथा तो पढ़ो, तथा स्वामी जी स्वयं उनकी आत्म-कथा पढ़ते और मुझसे कहते "यह तो उपनिषद है" उच्च वेदान्त ग्रन्थ है। इसमें उनका अनुभव अंकित है। उन्होंने प्रशंसा के लिये बढ़ा चढ़ा कर सत्य का हनन नहीं किया। वे सत्य के पुजारी थे, उनमें गर्व न था, पक्षभेद न था। पैशाचिक जाति पात के उपासक वे न थे। गेरुये वस्त्र धारण किये बिना ही वे उच्चकोटि के महात्मा व सन्यासी थे। वस्त्रों से क्या। अनुभवी और वेदान्ती होना ही लक्ष्य है। महात्मा की जीवनी अनुकरणीय है, तुम भी इस वेद को पढ़ो। सत्य-पालन, परोपकार, यम, नियम, प्रेम, धैर्य, क्षमा, उद्योग, शील, निर्लोभी-पन दया आदि दिव्य गुणों का सांमजस्य अकेले हमारे कर्म योगी बापू में ही पाया जाता है। उनका अनुकरण करो। अस्तु, श्रीकृष्ण के दौत्य, सारथीपन, गोकुलवास, गोपालन आदि

सारे कर्म केवल उनकी निरभिमानता प्रेम आदि के ही द्योतक हैं। कौशल्या-नन्दन श्री रामचन्द्र जी पहिले पहल भीलनी के घर क्यों पधारे ? इत्यादि। ऐसे अनेकों उदाहरण महापुरुषों के मिल जाते हैं। एक बार ऐसी ही शिक्षा हमारे वन्दनीय स्वामी जी ने हमें दी। गरमी का मौसम था, दोपहर को भोजन करके तथा जूठे बर्तनों को ज्यों का त्यों छोड़कर हम सभी शिष्यगण सो गये। कुम्भकर्ण की उपासना हम अच्छी जानते थे। स्पष्ट है उपासक उपास्य के अनुरूप हो जाता है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। रावणानुज की मोह-निद्रा ने यदि स्वामी नहीं तो उनका छोटा भाई अवश्य बना दिया। निर्वाण सुख को भी निद्रा-सुख के समक्ष तुच्छ समझने लगे। अति चञ्चल समय भला हमारे लिये रुकता ? सूर्य-देव भी गिरिशिखरों में तिरोहित होने लगे। हमें क्या पता। भला निद्रा-समाधि में कभी विक्षेप हो सकता था। भगवान् "न चाति स्वप्न-शीलस्य" इति। अर्थात् यथा समय यथोचित कर्म करने से ही योग प्राप्त होता है। परन्तु हमें ऐसे योग से क्या प्रयोजन, फिर भी आपत्ति ही आपत्ति। अस्तु किसी पुण्य विशेष से निद्रा भंग हुई। बाहर आते ही संध्या समय देख अचम्भित हुये। बर्तनों को साफ करने की याद तत्काल ही आयी, वहाँ पहुँचे, क्या देखते हैं शुद्ध साफ बर्तन यथा स्थान रखे हुये हमारे सेवा गौरव का प्रत्यक्ष उपहास कर रहे हैं। आलसी मन पहिले प्रसन्न हुआ, तथा हम

एक दूसरे को पूछने लगे भाई तुमने कब यह काम किया। सब ने मैं न, मैं न, कहकर उत्तर दिया। तदनन्तर यर्थात ज्ञान हो गया कि आज स्वयं स्वामी जी ने यह हमारी भी सेवा कर दी। अतः हम सभी स्वामी जी से रोये, माफी माँगने लगे, पश्चाताप करने लगे, परन्तु दयानिधि हाव-भाव व्यवहारादिक से भी अप्रसन्न प्रतीत न हुये। यह शिक्षा हमारे हृदयपट पर सदा के लिये अमिट-छाप छोड़ गई। यदि कभी बर्तन लापरवाही-पूर्वक साफ किये होते, तो सब के मौजूद होते भी स्वामी जी किसी से कुछ न कहकर स्वयं साफ करते और तब कहते "देखो बर्तन कैसे साफ होने चाहिये" कई बार हमारी अव्यवस्था, आलस्य को मुँह-तोड़ जबाब देने के लिये श्री गुरुदेव को गोशाला भी साफ करनी पड़ी। ऐसे कितने ही काम स्वामी जी हमारे परोक्ष में कर देते हैं, जिनका पता हमें बहुत दिन बाद लगता है। परन्तु फिर भी श्री गुरुदेव के स्वभाव में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। विचारवान के लिये गुरुदेव आदर्श-गुण-खान हैं। इसी प्रकार अतिथि सेवा भी गुरुदेव बड़े प्रेम व चाव से करते हैं। इतनी वृद्धावस्था में भी हमारे गुरुदेव अनपेक्ष हो कर्म-तत्पर रहते हैं। तथापि स्वधर्म समझ कर श्रद्धापूर्वक सेवा करना ही सेवकों के लिये कल्याण कारक होता है। स्वामी जी अक्सर कहा करते हैं यद्यपि मेरा कोई भी कर्म नहीं है तथा ये सारे व्यवहार तुम्हारे लिये ही कर रहा हूँ।

स्वयम् निर्लेप होते हुये भी आश्रित-पालन ऐसे ही महापुरुषों से सम्भव हो सकता है। "पद्मपत्रमिवाम्भसा" जल में रहते हुये भी सूखा रहना महात्मा-कमल-पत्र ने ही कर दिखाया है। संसार में निर्लेप रहना अत्यन्त धैर्यवान का काम है। आश्रित-रक्षक श्री स्वामी जी साक्षात् कल्पतरु के सदृश इष्ट-दाता हैं। आप फलाहारी होते हुये भी अन्य पदार्थ दूसरों के लिये इकट्ठा कर लेते हैं। परन्तु महापुरुषों के इस प्रकार के सारे कर्म लोक-कल्याणार्थ होने से अकर्म कहलाते हैं। अतएव वे बन्धन के कारण नहीं होते। सीता-वियोग में लौकिक पुरुष के समान अलौकिक भगवान राम क्यों रोये ? तथा इस प्रकार वे अवतार कैसे कहे जा सकते हैं। यह प्रश्न मूढ़ लोगों का है। उन महापुरुषों की लीला अद्भुत है। जिस प्रकार कुशल नट तरह-तरह के अभिनय कर कभी बादशाह कभी नौकर आदि बन जाता है। प्रसंगानुकूल रोता, हंसता और लड़ता भी है। परन्तु उसमें वास्तविकता नहीं होती। इसी प्रकार महापुरुष भी अभिनयवत् सारे कर्म करते तो हैं, परन्तु उनमें आसक्ति नहीं रखते। इसी प्रकार की विचित्रताओं से हमारे नटवर श्याम भी भरे हुये हैं। अस्तु यदि उलूक को दिन में नहीं दीखता तो उसका अनुभव सार्वजनिक अनुभव नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही महापुरुषों को अपने ही तराजू से तोलना सत्यपर कुठाराघात करना है। अस्तु

"तदर्थं कर्मकौंतेय मुक्तसंग समाचर" लोकोपकारार्थ कर्म करना योग्य है, परम-पुरुष पुरुषोत्तम का इस से ही अभिप्राय है। "शरीरयात्रापि च तेन प्रसिद्धयेदकर्मणः। सर्वसंकल्प संन्यासी योगारुढस्तदोच्यते।।" "अनाश्रितः कर्म फलं कार्यं कर्म करोति, यः स सन्यासी" आदि अनेकों गीता मन्त्रों द्वारा यही प्रमाणित होता है।

जो कुछ होता है वह भी पुराना है। अर्थात् नया कहाँ से आना है। यह प्रकृति का अटल नियम है। उसे कौन बदल सकता है। कुछ दिन पहिले सत्संग के सुअवसर पर श्रद्धालुओं के बीच में श्री स्वामी जी बोले कि बड़े लोगों के प्रभाव से छोटे लोग भी बड़े हो जाते हैं। केनोपनिषद का प्रसंग था कि अग्नि आदि देवगण परमेश्वर की विजय को अपनी अपनी विजय समझे। परन्तु कालान्तर में उन्हें यह अपनी भूल मालुम हुई। इसी तरह श्वेतकेतु पढ़कर बहुत विद्वान हो गये तो अपने पिता आरुणी को भी कुछ न समझते। विद्वान ब्रह्मज्ञानी आरुणी-ऋषि ने अपने पुत्र का यह अज्ञान अपने दिव्यज्ञान द्वारा नष्ट किया। गर्व तो अज्ञानियों को होता है। स्वामी मुझसे कहा करते बाल ! अहंकारी मनुष्य नीच बन जाता है। तथा सभी त्रुटियाँ मनुष्य अहंकार-वश करता है। इत्यादि नाम रूप जड़ है। चेतन की सत्ता से वह भी सत्तावान बन जाता है।

यम नियम सम्पन्न हमारे गुरुदेव की आसन सिद्धि असाधारण है। आठ दस घण्टे एक आसन पर स्थित-भाव रहना उनके लिये साधारण बात है। भगवत्-पारायण आदि सुअवसरों पर हमने ठोस गुण का उनमें प्रत्यक्ष दर्शन किया। तथा यम-नियमों को भी सर्वांग पूर्ण ढंग से जीत चुके हैं। प्राणायाम यम के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती। श्री स्वामी जी के मधुर भाषण तथा प्रखर तेज से विदित होता है कि वे अवस्थ प्राणायाम जप कर चुके हैं। परन्तु प्राणायाम की साधारण क्रिया को छोड़ कर कभी भी स्वामी जी ने हमें हठयोग का आदेश नहीं दिया। उनका विचार है कि अनेक प्रकार की आपत्तियाँ हठयोग के कारण उठानी पड़ती हैं। प्रत्याहार का अद्भुत प्रभाव उनमें दिखाई दिया। हमारा अनुभव है कि क्षुधा, पिपासा, निद्रा आदि साधारणतया उनको प्रभावित नहीं कर सकती हैं। ये सारे अनुभव हमें साथ रहने वालों को समय-समय पर हुआ करते हैं। विस्तार भय वश उनका चित्रण यहाँ नहीं कर सकता। आप स्वयं कर्म कुशल हैं साथ ही निर्लेप भी। महापुरुष कभी उद्विग्न नहीं होते हैं। "यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति" के अनुसार सारे लक्षणों का दर्शन आप हमारे गुरुदेव में कर सकेंगे।

जब बुद्धि सात्विक हो जाती है तब ऐसे सूक्ष्म भावों का

बोध होता है। अन्यथा असम्भव है। एक बार नहीं वरन् अनेकों बार वे समत्व परीक्षा में उत्तीर्ण हुये। एक बार छद्मम-वेष धारी साधु चोरनारायण उनकी घड़ी, पेन (कलम), पैसा आदि बहुत भौतिक सामान को चुरा ले गया। **ज्ञान रूप धन अपने पास देखते हुये उन्होंने किंचित् भी खेद नहीं किया।** तथा पूर्ववत् प्रसन्न रहे। तथा एक दिन अपने परम पूज्य गुरुदेव की समाधि (मृत्यु) की खबर सुनकर भी गुरुदेव ने तनिक भी मोह नहीं किया। इस बात का साक्षी स्वयं मैं हूँ। ऐसे ही एक बार उनकी परम प्यारी गौ को शेर ने मार दिया, फिर भी गुरुदेव चिन्ताग्रस्त नहीं हुये। उनके विचार से शरीर त्याग करना कोई मृत्यु नहीं कहलाती। महापुरुषों के रोना, क्रोध करना आदि कर्म केवल नाटकीय होते हैं। यथा श्री रामचन्द्र जी का सीता वियोग में रोना, भगवान् श्रीकृष्ण का कंसादिकों पर क्रोध करना ! परन्तु वास्तव में वह क्रोध नहीं होता। यथा -क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यम्। अर्थात् महापुरुषों का क्रोध भी वर तुल्य हो लोकोपकार ही करता है। यथा श्री कपिलदेव के शाप देने से सगर-पुत्रों के उद्धार के बहाने अवनी-तल पर सुर-सरिता अवतीर्ण हुई। जिस से लाखों प्राणी कलि-कलुष विहीन हो अनायास ही संसार सागर से पार उतरते हैं। श्री दुर्वासा ऋषि के शाप से समुद्र मन्थन हुआ

तथा कामधेनु आदि चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई। सनकादि-ऋषीश्वरों के शाप से, जो जय विजय को दिया गया था, नरहरि अवतार, प्रहलाद भक्त, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, सती सीता-देवी, भरत, लक्ष्मण, महावीर, तथा नन्द, यशोदा, श्रीकृष्ण, राधा, गोपियाँ, ब्रज, अवध, द्वारिका, युधिष्ठिरादि तथा गीतादिक अनेकों निधियाँ मिली। सब का मूल कारण यही महा-शाप है। स्पष्ट है कि महापुरुषों के शाप से भी लोक कल्याण ही होता है। श्रृंगीऋषि के शाप के कारण परीक्षित को श्री शुकदेव ने सात ही दिन में जीवन मुक्त कर दिया। ब्राह्मण शाप से वेनु मरा, परन्तु उसी कारण पृथु अवतार हुआ। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं और सिद्ध करते हैं कि महापुरुषों के शाप भी दुनिया की भलाई ही करते हैं।

वशिष्ठाश्रम के पास कोई स्कूल न होने से स्वामी जी चिन्तित होते क्योंकि इस इलाके में बहुत दूर तक स्कूलों का नाम तक नहीं है। अतः समीपस्थ सारे ग्रामीण लोग अधिकतर निरक्षर हैं। अतएव श्री स्वामी जी ने स्वयं एक मिडिल स्कूल की स्थापना की जिसको लगभग एक साल हो गया है। आज कल श्री गुरुदेव उसी स्कूल की इमारत बनाने का उद्योग कर रहे हैं। यद्यपि मान प्रतिष्ठा से परे पदार्थ को ही वे अधिक महत्व देते हैं। तथापि मैं

अज्ञान-वश एक दिन बोल उठा यदि यह काम पूरा हो जाता तो आप स्वस्थ व निश्चिन्त हो जाते। तब दया-सागर बोले-मैं तो अभी भी स्वस्थ व निश्चिन्त हूँ। धन्य है महापुरुष आपकी दिव्य भावना को। "हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।" यह मन-मोहन की दिव्य-वाणी यथार्थ चरितार्थ होती है। सीतान्वेषण-परायण श्रीराम को निर्विकार व प्रसन्न बताना आप ही का काम है। वर्तमान काल अज्ञान प्रधान है। अस्तु बहुमत की जय होना प्रत्यक्ष सत्य है। हजारों कौवों के मध्य एक हंस की नहीं चलती। यथा कंस-केशि-हिरण्याक्ष-रावण प्रभृतियों ने गो ब्राह्मण, साधु आदि को सताना ही अपना मुख्य धर्म समझा। परन्तु जैसा बोना तैसा पाना, यह नियम अटल है। अस्तु उसका कुपरिणाम जगविदित है। आखिर सत्य तो सत्य ही है। सत्य सूर्य में अज्ञानान्धकार को स्थान कहाँ ?

अस्तु परमार्थ सेवियों के लिये सद्गुरु-सेवा ही मुख्य सेवा है। मातृ-सेवा, पितृ-सेवा, आचार्य-सेवा, अतिथि-सेवा, धर्म-सेवा, राज्य-सेवा, लोक सेवा, गो सेवा, देव-द्विज सेवा आदि सेवायें गौण हैं क्योकि ये सेवायें सकाम होने से अकर्म नहीं कहलाती। निष्कामियों को तो केवल चित्त-शुद्धि ही चाहिये। तथा ज्ञान-प्राप्ति को प्रधान-साधन बुद्धि कर्मों के ही अनुसार बनती है।

मन-प्रसाद सौम्यता आदि निष्काम -कर्म रूप तप के फल हैं। सेवा से परे कोई तप नहीं है। क्योंकि ईश्वरार्पण सेवा से स्वभावतः भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। और उसके प्रसाद से परं शान्ति प्राप्त होती है। "त्वमेव शरणं गच्छामि" इत्यादि भगवत् उपदेश को ग्रहण करना हमारी कर्म-परिपाटी का एक अंग है। श्री गुरुदेव इस गुढ़ार्थ को बार-बार समझाते कि-कलुषित, तरंगित, विक्षिप्त तथा अज्ञानाच्छादित हृदय-तड़ाग में आत्मा रूपी सूर्य की परछांई पड़ना बहुत असम्भव है। अतएव निष्काम कर्म सेवा ज्ञानाभ्यासादि उपाय करके अन्तः करण रूपी सरोवर को स्वच्छ व शान्त करना चाहिये। तब प्रकाश स्वरूप आत्मा स्वयमेव दृष्टि-गोचर होने लगेगा। क्योंकि शुद्ध निश्चल जल में सूर्य स्वयमेव प्रतिबिम्बित होता है। अपने आपको ज्ञानी समझना महा अज्ञान तथा पागलपन है। मिथ्याचार से बढ़कर और दूसरा कोई शत्रु नहीं होता। राख में छिपी हुई आग के समान ही आत्म-वञ्चना है। भोगासक्ति को हृदय में छिपा कर बनावटी वैराग्य से क्या प्रयोजन ? यह

तो आत्म-हत्या हुई। अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं ? महाराज कहा करते बाहर भीतर एक समान शुद्ध रहो। प्रकटतः प्रेम दिखा कर और हृदय में कपट रख कर व्यवहार करने वाला सत्य-स्वरूप भगवान् को धोखा देता है। साधक को ये सारे दुर्गुण त्याग देने चाहिये। महाराज मुझसे अक्सर कहा करते हैं "बाल" खाने की इच्छा है तो और खाओ, मानी होकर दुःखी मत होवो। मेरे स्वभावानुसार स्वामी जी ऐसा कहा करते। क्योंकि मान, लज्जा आदि से वासना को दबाने से उसका क्षय न होकर वृद्धि ही होती है। **अन्तर-बाहर की वृत्तियों की विषमता ही कपट कहलाता है।** अस्तु कपट दुःख का कारण है। शास्त्र विधि से अनुकूल नियम का साधक को अवश्यमेव अनुकरण करना चाहिये। "कर्मण्यकर्म" को अनुभव करते हुये सिद्ध लोगों ने इस बन्धन को काटना सिखलाया। **ज्ञानी का ज्ञान वज्र समान दृढ़ होता है। वह कर्म फल रूपी जल से नहीं गला करता।**

जिस प्रकार सूर्य आठ महीने निरन्तर तपते हुये जल को ग्रहण कर चतुर्मास में उसका त्याग करते हैं उसी प्रकार महात्मा लोग भी सदुपाय से विद्या, धन आदि का संग्रह कर समयानुसार

अधिकारियों को देते हुये लोभ नहीं करते। न अपने लिये संचित रखते हैं।

आसक्त महात्मा नहीं हो सकता। आसक्ति ही दुःख का कारण है तथा संसार का बीज है। ज्ञानी लोग इस वासना बीज को विचाराग्नि में होम कर देते हैं अतः उससे अंकुर नहीं निकलता। अज्ञानी व मिथ्याचारी इस बीज को जैसे को तैसा ही रहने देते हैं। क्योंकि उन्हें ज्ञानाग्नि नहीं मिलती जिससे वह पुनः बढ़ता ही रहता है। महाराज की शिक्षा शैली बड़ी विचित्र है वे अक्सर कहा करते, "यह बात तो ऐसी है, नेत्र बंद कर विचार करो, तुम विचार कर निश्चय करो इत्यादि। तथा कहते हैं अपना चरित्र-शोधन स्वयम् करो। गलतियों से न डरो, गलतियाँ हर एक से हुआ करती हैं। गलती करने बाद निरुत्साह दिखलाना या उसको छिपाना ही वास्तव में गलती है। अपनी गलती न छिपाना महात्मा गांधी का प्रधान-गुण था। वे उससे बचने का उद्योग किया करते। अतः उनकी प्रसंशा करते हुये कहते, महात्मा स्वयम् अपने कर्मों से महान् बने। वे सत्य के अन्वेषक, उद्योगशील तथा महान् सहन-शील थे। कर्म-क्षेत्र में महात्मा गांधी साक्षात् जनक महाराज के अवतार थे। वे नीति-निपुण होते हुये भी महान् त्यागी भी थे। यदि वेदान्ती बनना चाहो तो महात्मा गांधी का अनुसरण करो। वे

सन्यासी , कर्म-योगी, महा-योद्धा, आश्रित-रक्षक तथा आत्म विश्वासी थे। वे भारत माता के मुकुट मणि थे तथा भारत ही नहीं समस्त संसार के बापू थे। उन्होंने मनसा, कर्मणा, वाचा सत्य को सत्य कर दिखलाया। स्वामी जी अतिशय भावावेश में कह रहे थे कि मेरे परम प्रिय गुरुदेव श्री स्वामी निर्मलानन्द जी की महासमाधि वार्ता भी मुझे इतनी कातर नहीं कर सकी जितना महात्मा गांधी के शरीर त्याग से हुआ। उस समय मैं प्रयाग में था, यह दुःख वार्ता सुनकर मैं अहो।

श्री गुरुदेव सद्गुणों का बहुत आदर करते हैं। तथा उनकी गुण-ग्राहकता भी उच्च कोटि की है। जाति-पांति गत विद्या की प्रशंसा नहीं करते। तथा राष्ट्र नेताओं के महनीय-त्याग की भूरि-भूरि प्रसंशा करते हैं। महापुरुषों की बारम्बार जय हो।

इति कर्म-शासनम्।

।। माता से।।

प्रिय गंगे ! पतित-पावनी, पुण्यसलिले ! बाल की प्यारी मैया ! बालक बाल तेरी गोद में बैठा है। इसी तरह तू ने अनेकानेक ऋषि मुनियों को भी अपनी गोद में लाड़ लड़ाया होगा। माँ ! आज नये साल का प्रथम दिन है, पुण्य एकादशी तिथि तथा चन्द्रवार है। पहिले भी एकादशी आदि पुण्य तिथियों में वसिष्ठादि दिव्य ऋषियों ने तेरा यथोचित, पूजन वन्दन स्तुति आदि उपचारों से तेरा सत्कार किया होगा। ऐसे महापुरुषों को पैदा करना तेरा ही काम था। ऐसे पुत्रों से माता कृतार्थ हो जाती है। कदाचित् उनको याद करके तू अभी भी रोती होगी। वे परम-पावन लोकोपकारी-सन्त-जन तेरे प्यारे थे। आज हम जैसे मूर्ख बालकों ने तो तेरा अपमान ही कर रक्खा है। माँ तू यह देखकर दुःखी होती होगी। परन्तु माँ ! हमारे वन्दनीय पिता का स्मरण कर उन समस्त अपराधों को भूल जा। अपने पुण्य प्रभाव से हमारे अन्तकरणों को भी ज्ञान से प्रकाशित कर दे। माँ ! पुत्र कुपुत्र हो

जाता है परन्तु माता कभी भी कुमाता नहीं हो सकती। माता का कुपुत्र पर भी वात्सल्य प्रेम रहता ही है। कुपुत्र माता की परवाह नहीं करते परन्तु माता पुत्र का हितचिन्तन करती रहती है। यथा तूने मुझ बाल को अत्यनुग्रह करके श्री गुरुदेव के आश्रम में रख दिया। वे तेरे दिव्य पुत्रों में से हैं। तेरा नाथ परमेश्वर तुझ से अभिन्न है। यथा तेज सूर्य से अलग नहीं हो सकता तथा तू भी बापू से अलग नहीं है। गंगे तू ही राधा है। तथा यमुना होकर तू ही ब्रज-धाम की शोभा बढ़ाती है। चिन्मयी मूल प्रकृति हो तू ही ब्रह्म की पराशक्ति है। तू ही अनादि, अनन्त, आनन्दमयी भी है। श्री कृष्ण प्रिये ! वृषभानु दुलारी ! तू ही लक्ष्मी नारायण रूप से बैकुण्ठ में, वाणी हिरण्यगर्भ होकर सत्यलोक में तथा उमा-महेश रूप से कैलाश में विराजती है। तू ही दुर्गा व काली है। मैया तू ही ब्रजधाम में पुरुष रूप से श्यामसुन्दर बन गई। तथा रासराणी राधा भी तू ही थी। अघटित घटना पटीयसि ! तू ने ही नन्द यशोदा तथा ब्रज का रूप धारण किया। तेरी अचिंतनीय लीला शक्ति ने ही अपने आप देवकी, वसुदेव, उग्रसेन, धर्मराज आदि अनेक सतो गुणी रूप धारण कर लिये। उसी लीला शक्ति ने राजस प्रधान, कंस, नरक, मुर, जरासन्ध, शिशुपाल आदि अनेक रूप धारण किये। माँ ! तेरी प्रेम कलायें गोपियों, पटराणियों ब्राह्मण पत्नियाँ आदियों का रूप धारण कर अवतरित हुईं। करुणा निधाने ! प्रसीद,

प्रसीद।

ब्रह्मादिक तेरे पुत्रों ने भी तेरा पार नहीं पाया। मैं अबोध शिशु कैसे वर्णन कर सकता हूँ। माता जी ! हमारे गुरुदेव तेरे ही लाल हैं, मैं तो उनकी चरण रज के समान भी नहीं हूँ। तो भी दयानिधि प्रेम करते हैं। अतएव तुझे भी अवश्य प्रेम करना ही पड़ेगा। यह शरीर तथा वह शरीर दोनों ही आपके हैं। मन व बुद्धि भी तेरी ही है। तथा अहंकार भी तेरा ही है। मैं कौन होता हूँ ! जो कुछ है सब तेरा है। फिर मैं कहाँ? सूर्य के प्रखर तेज को यदि अन्धकार अपना बनावे तो क्या हर्ज है। शक्ति रूप रज, पुरुष रूप शुक्र दोनों क्रमशः माता पिता का स्थान लेते हैं। उन दोनों की संयोगोत्पन्न वासना अज्ञान ही है। अतः ज्ञान-अज्ञान दोनों तेरे ही रूप हैं। तू ही पार्वती हो गर्भ धारण करती, तथा दूध व अन्न से पोषण करती है। आकाश में अवकाश देती है तथा अग्नि, जल, वायु, तेज, धरत्री रूप धारण करती है। माँ ! इस पंच-भौतिक देह में मैं और मेरा क्या है ? तू ही आकाश-कुसमों की माला पहनती है। शश-श्रृंग के अस्त्र से बन्धा पुत्र को मारती है। तथा तुम ही गंधर्व नगर में दीवाली की चन्द्रिका में अव्यक्त ग्रन्थ को पढ़ती हो। तेरा माया नाम भी सार्थक ही है। माता, पिता, पुत्र, खेल तथा खिलौना माता राधे ! तू ही है। माता ! जह्नु नन्दिनी गोमुख में तू

कन्या, प्रयाग में युवती, तथा गंगासागर में तू वृद्धा हो जाती है। अपने नाथ सागर से मिलने के लिये तू दिन-रात दौड़ती रहती है। रोकने वाले पत्थरों चट्टानों को तू चूर-चूर कर देती है। तेरे और इन गिरि कुमारों के भीषण विवाद से एक कोलाहल सा सुनाई देता है। परन्तु फिर भी तुम अतिशय वेग से अपने प्राणप्यारे के पास चली जा रही हो। माँ ! यह द्रुत गति क्यों ? विषम भाग में वेग पूर्वक और समतल मैदानों में मंथर गति से चलना तुम्हारी ही विशेषता है। माँ ! इस नादान बाल को भी परमार्थपथ में त्वरित-गति दे। अम्बे ! जिस प्रकार तुम सागर में प्रविष्ट होते ही विलीन हो जाती हो। उसी प्रकार मेरे इस अलयभाव को भी आनन्दानंद सागर में समा दो। प्यारी माँ ! राधे, तुझे ज्ञात है ? जब तेरा मन-मोहन वृन्दावन छोड़ कर मथुरा गया था तब तू किस प्रकार विह्वल हो उठी थी। बाल की एकावलम्ब अम्बे ! तेरे बिना यह बाल किस तरह रहेगा। अतः जो कुछ भी तेरा है सब समेट ले। अन्यथा मेरे मार्ग को प्रशस्त बना दे। और अपनी परम-पावनी गोद में मुझ बाल को भी स्थान दे।

माँ! दुर्गे! राधे! गायत्री! सावित्री! सरस्वती! गौरि! कालि! लक्ष्मि! सीते ! शीले ! कमले ! कपिले ! अन्नपूर्णे ! पार्वति ! भगवति ! भागीरथि ! विधे ! शीतले ! शान्ति ! जयन्ति !

सुशान्ति ! सुनीति ! सुमित्रे ! सत्ये ! सनातने ! निर्मले ! निरुपमे ! निर्ममे ! नित्ये ! निरज्ञाने ! निराकारे ! नान्ये ! नर्मदे ! नीले ! निरीहे ! निराशे ! पूते ! पुष्पे ! पुरन्ध्रे ! कले ! कामिनि ! कान्ते ! कातरे ! करुणे ! कुमारि ! कूले ! हरी ! भटी ! शठी! तथा परमेश्वरि ! परमानन्दे ! यशेन्द्रे ! प्रमोदे ! उन्मादे ! दीनानाथे ! बाल-बाले नमस्ते ! गौरी ! गौरि ! हरि ! हरि ! प्रसीद, प्रसीद आधारे ! निराधारे ! तेरी जय हो। बाल को गोद से न उतारो। बारम्बार तेरी जयकार मनाता हूँ। भगवति भगवति प्रसीद, प्रसीद। माये ! महामाये नमस्ते।

मन-मोहन श्यामसुन्दर को प्रसन्न करने के हेतु तू किस प्रकार श्रृंगार करती। तथा कुञ्ज-वन में मनमोहन श्याम सुन्दर को मिलने के लिये तू घर से चोरी-चोरी चली आती। परन्तु चोरी खुल गयी। यह भेद सारे ब्रजवासियों पर खुल गया। माँ ! यदि तेरा लाल प्रियमाण हो तो तू क्या न आयेगी ? आनन्द रूपणी माता जी! तेरी लीला अचिन्तनीय है। माता ! गंगे ! तू सोम है। अमृत वर्षणी शीतल तंरगों से हृदयानन्द को तू ही बढ़ाती है। माँ ! अब निशा देवी का आगमन हो गया। माँ ! तू भी अपनी कुक्षियों में सांप को धारण कर रही है।

सन्ध्ये ! पराशक्ते ! पुष्पाञ्जलीले ! "आदिशक्ते !

जगन्मातः भक्तानुग्रहकारिणि ! सर्वत्र व्यापिकेऽनन्ते श्रीसन्ध्ये नमोस्तुते"।

भूतनाथ, प्रेत चारि हर की जय हो। उग्रबल धारी गौरांग की जय हो। नटराज, महा भैरव की जय हो, पिनाक पाणी परम शिव की जय हो। जिस के प्रभाव से महा श्मशान भी पुण्य क्रीड़ास्थली बन सकती है। ऐसे महा विक्रम शक्ति धर की जय हो। निर्भय बनाने वाले महादेव की जय हो। बटविटपी समीप दक्षिण मूर्ति की जय हो। भगवान् लोक गुरु शंकर की जय हो। वेदव्यास की जय हो। ब्रह्म विद्या प्रवर्तक पुरुषोत्तम की जय हो। श्री ब्रह्म विद्या उमा की जय हो। ब्रह्म विद्ये ! तू सन्धि होने से अर्थात् जीवात्मा रूप रात का परमात्मा रूप दिन से मेल करने के कारण संध्या कहलाती है, अथवा आत अनु सन्धान करने से, अन्त करने से ही संध्या कहलाती है। तीनों संध्यायें तेरे तीन स्तन हैं। अतः तू त्रिस्तनी है। संयोग, वियोग और तीसरा स्वराज ये तीनों तेरी तीन अवस्थायें हैं।

माँ ! क्या तेरे घर में हम तीनो हैं। अथवा दो हैं। यदि तीन दो हैं तो दो एक भी अवश्य होगें। फिर ऐसा है तो एक का एकत्व-भाव भी कहाँ रहा। आगे तुम ही जानो। बाल की तोतली वाणी माँ ही जानती है। बाल भी माँ-बाप को पहचानता है। बाल

की जीवनी को माँ-बाप जानते हैं, परन्तु बाल माँ-बाप की जीवनी नहीं जान सकता। अच्छा मैया ! अब अन्धकार व शीत बढ़ रहा है, अस्तु आज्ञा हो।

आज प्रातः काल जैसा ही सुन्दर सुहावना प्रभात कालदेव की प्रेरणा से उपलब्ध हुआ है। गंगा-मैया अपना मृदुगान गा रही है। बाल-रवि भी उदयोन्मुख है। वन-विहंगम भी इस सुअवसर का समुचित लाभ उठा रहे हैं। तथा अपने विविध प्रकार के सुरीले स्वरों में अपना संगीत कौशल दिखा रहे हैं। हिमवती माँ से लाड़-दुलार पाया हुआ पवन भी आश्रम की तरफ अग्रसर हो रहा है। हे पवन-देव महाराज तो अब तक आये ही नहीं। वे आज कल पर्यटन कर रहे हैं। हे पवन देव ! आप सत्संगी होने से अवश्य उनके पावन दर्शन पा रहे होगें। तुम धन्य हो। यद्यपि इस हेमन्त-ऋतु में आपका यथोचित-सत्कार नहीं हुआ तथापि हम आशा करते हैं कि यह सब जानते हुये ग्रीष्म काल में आना न भूलियेगा।

माँ ! तेरा काल चक्र त्वरित गति से घूम रहा है। आज ही रात को तुम्हारा नील वर्ण कृष्णायमान हो गया है। और किस्म किस्म के नवीन रंगों का क्रमशः परिवर्तन हो रहा है। इसका संचालन माँ ! तेरे ही हाथों हो रहा है।

अनन्त-शक्तिस्वरूपिणी माँ ! दुर्गे। आजकल संसार में कोई काम करता है और फल व यश का भागी कोई और ही होता है। परन्तु तू ही तू कहना आत्म सम्मान को ठेस पहुँचाना है। अतः तेरा नाम कोई नहीं लेता। "प्रकृतेः क्रियमाणानि" आदि भगवद् वाक्य इसके प्रमाण हैं। राम-रावण युद्ध के कई विजयी वीर अपनी अपनी प्रसंशा स्वयम् करते तब भगवान् की अत्यन्त कृपा से उनका यह अहं भाव दूर हुआ तथा वास्तविकता से परिचित हुये। ऐसे ही मृत्यु कारण दैव को छोड़कर लोग बहुधा बीमारियों को ही कारण बताते हैं। यही नियम सर्वत्र व्याप्त सा हो गया है। अतः तेरी ही माया से तुझे ही भूल जाते हैं। क्या किया जाय। माँ ! बाल को तेरी अत्यावश्यकता है? शरणदे प्रसीद प्रसीद।

!! अथ लक्ष्यभेदनम् !!

श्री गुरु प्रसाद रूपी वाणी भगवती वीणा बजा रही है। रसराज ज्ञान सुधा वृष्टि कर रहा है। जिससे सभी प्रकार के अभाव दूर हो जाते हैं। **अन्तः करण में बन्धनरूप अज्ञान का निराकरण हो सुबुद्धि का प्रादुर्भाव होता है।** मेधावी महापुरुष के लिये महामाया स्वयम् मार्ग प्रशस्त कर देती है। क्योंकि तीव्र उद्योग से त्वरित फल-प्राप्ति होती है। इसमें सन्देह नहीं है। सद्गुरु कृपा से मुक्ति और अभ्यास वैराग्य से तत्क्षण शांति मिलती है। आग में हाथ जल जाता है, यह प्राकृतिक नियम है। परन्तु उपाय से वह भी सेवनीय हो जाती है। उसी प्रकार वैसे ही संसार बन्धन के दुःख का अनुभव होने पर उद्योगोपाय से तथा मातृ कृपा से सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। जिस से तत्काल वैराग्य, त्याग व शान्ति प्राप्त होती है।

जिस प्रकार सुअर, कुत्ता, कौवा आदि विष्टाहार में ही

परम-सन्तोष प्राप्त करते हैं और स्वर्ग-सुख को भी हेय समझते हैं। उसी प्रकार यह प्राणी भी विषय सुख का ही परम सुख समझ कर उसी में रमता है। इस प्रकार वह सत्य, सनातन सुख से कोसों दूर हो जाता है। वे विषयानन्दी परमानन्द से उसी प्रकार वंचित रहते हैं। जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश से उल्लू। महा-माया के इस आधि-व्याधि-युक्त प्रपंच का त्याग करना भी सरल नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कहते हैं "अश्वत्थमेनं सुविरुढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा" के अनुसार भी भीरू पुरुषों के लिये सम्भव नहीं है। स्वामी जी हम लोगों से कहा करते हैं। "तुम लोगों का कोई मत नहीं है"। इससे यही सिद्ध होता है कि न हम गृहस्थ ही हैं न सन्यासी ही। कर्मयोगी का भी मत है वह भी निष्काम-कर्म योग से लक्ष्य भेदन कर परम पद प्राप्त करते हैं। सन्यासी तो सर्व संकल्प त्यागी है, जिससे वह नित्य मुक्त है। किसी भी मत का प्रयोजन मुक्ति ही है। अहो ! हम मूर्खों के लिये अब कौन सा स्थान शेष रहता है। साधना में यह उत्तर भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि साधक में भोगेच्छा, मानेच्छा, आलस्य आदि को स्थान नहीं है। इनके विद्यमान रहते हुये वह साधक नहीं कहलाता। महापुरुषों की वाणी कभी वृथा नहीं जाती। साधक सिद्ध को छोड़कर एक दूसरा समुदाय है जिस को उभय-पथ-भ्रष्ट कहते हैं। शास्त्रों में ऐसे पथ-भ्रष्टों की पाखण्डी संज्ञा है। वे न

आकाश में न धरती में हैं। अतः प्यारी माँ ! दयालु पिता जी ! इस मूर्ख बाल को अपनी शरण में रखकर पथ-भ्रष्ट न होने देना। मेरे ऊपर दया रखना।

मन-मोहन ने प्यारी वाणी सत्य ही कही कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" अर्थात् धर्म-त्याग से महा अमंगल होता है। यह नियम सभी पर लागू होता है। चाहे राजा हो या प्रजा, साधु हो अथवा गृहस्थ। भागवत् में महाराज वेन की कथा से मालुम होता है कि धर्म-विरुद्ध आचरण करने से नाना प्रकार के कष्ट भोग कर अन्त को दुर्गति होती है।

सन्यासी का भोगेच्छुक रहना, गृहस्थ का निरुद्यमी रहना तथा साधक का आलसी रहना विनाश को बुलावा देना है। राजा पुत्र के समान प्रजा की रक्षा करे। उसी प्रकार प्रजा भी राजाज्ञा का धर्मवत् पालन करे। तभी सुख व शान्ति रह सकती है। राजा अधर्मियों को दण्ड देकर निःस्वार्थ लोक सेवा करे। इन नियमों में किंचिदपि प्रमाद होने से महा भयानक उत्पात होता है। इसी प्रकार नेता भी जनता का विश्वास प्राप्त कर विश्वास घात न करे। क्योंकि नेता ही जनता का पथ-प्रदर्शक होता है। वह पथ-भ्रष्ट होता है तो जनता भी

विश्रृंखल हो जाती है। अतएव सभी को विचार शक्ति से काम लेना चाहिये। इस तरह वह कभी दूसरों के जाल में नहीं फंस सकता। सतासत् को विचारपूर्वक पहिचानना ही पाण्डित्य है।

गृहस्थ भी अतिथि सेवा, देव सेवा, मातृ-पितृ सेवा, दीन साधु का सत्कार कर स्वधर्म-रत हो। ये सारी सेवायें निष्काम भाव से करनी चाहिये। ईश्वरार्पण बुद्धि से ज्ञान, भक्ति, अनासक्ति आदि सद्गुणों की प्राप्ति आसानी से होती है। धर्म-भ्रष्ट कहीं के नहीं रहते। तथा देहांत के बाद भूत प्रेत आदि योनियों को प्राप्त हो महा-तामस को प्राप्त होते हैं।

वैराग्यवान् मुमुक्षु सद्गुरु का आश्रय लेवें तथा लोक कामना का त्याग कर मुक्ति के लिये दृढ़ उद्योग करे। गुरु प्रसाद से सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त होती है। निष्कपट सेवा से महापुरुष प्रसन्न हो कल्याण मार्ग दिखाते हैं। सद्गुरु को आत्मार्पण रूप सर्वार्पण करने से परम लाभ प्राप्त होता है। आलस्य स्वार्थ आदि इस मार्ग के महा शत्रु हैं। इससे बचते हुये अपने प्रयास को सतत् जारी रखे क्योंकि सद्गुरु से शिक्षा भिक्षा लेना कोई सरल कार्य नहीं है।

श्री गुरुदेव के हाथ में ज्ञानामृत भरा कलश है जिसकी एक बून्द भी पी जाने से पुनर्जन्म नहीं होता।

सद्गुरु स्वयं ज्ञान रूप-रवि हैं। तथा स्वभावतः अज्ञानान्धकार का हरण करते हैं। उनकी वाणी सुधा वर्षण करती है। श्री राधा साक्षात् गुरु-रूप से प्रकट हुई है। अतः सेवा भी गुरु को सदैव प्रसन्न रक्खो। तब "तत्प्रसादात् परा शान्ति" अवश्य होगी। राधा का गीत है कि "न ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" अर्थात् ज्ञान के बराबर शुद्ध और कुछ नहीं है। ज्ञान ही शान्ति की माता है। और गुरु कृपा से ज्ञान तथा गुरु-सेवा से सेवा ज्ञान मिलता है। **विचार-सेवा-उद्योग साधक के प्रधान गुण हैं।**

महापुरुष के निकट स्वार्थ-भूत नहीं ठहरता। अस्तु वहाँ उसका भी नाश हो जाता है। महापुरुष तो सहज ही निःस्वार्थ होते हैं। वे आत्माराम हैं। यह प्राणी करोड़ों जन्मों तक सुख भोग कर भी तृप्त नहीं हुआ, यही आश्चर्य है। शिक्षा देते हुये सब कहते हैं। "बाल तू कौन है" एक बार अपनी ओर देख तू कहाँ-कहाँ मारे मारे फिरता रहा। जहाँ-जहाँ तू बैठता वहाँ ही अपने पैर फैलाता। मालिक तुझे सब जगह से निकालते। परन्तु तू फिर भी बाज न आता। कभी कुत्ता, कभी गधा, कभी सुअर, कभी कीट पतंग तथा कभी राजा, कभी रंक, कभी प्रजा अर्थात् कभी

स्त्री, पुरुष, भोगी, योगी आदि बन स्वर्ग नरक की सैर करता रहा। "रज्जोर्यथाहेर्भ्रमः" में पड़ कर तूने कितने कष्ट उठाये। फिर भी तेरी आँख न खुली। अरे ! तू महा साहसी भी है। करोड़ों बार माता की कुक्षि में वास कर दुःख झेलता रहा तथा यमराज के कठिन-काल दण्ड से भी तू न घबराया। कई बार काल अजगर के कराल-गाल में भी पड़ा परन्तु अरे ! मूर्ख अभी तक भी बचने का उपाय न सोच सका। तूने सारी सराय को गन्दा कर दिया, करोड़ों वस्त्र फाड़ चुका। गिरि-प्रमाण अन्न भण्डार डकार गया। करोड़ों माताओं को दुःख दिया। कुक्षी-नरक को क्रीडास्थल समझ बैठा। क्या गर्भ तेरे लिये बैकुण्ठ हो गया है। न तुझे अपने असली घर का पता न स्वदेश तथा माँ बाप की खबर। तेरी इच्छा क्या है। अपने लुटेरे साथियों को तू अभी तक नहीं पहिचान सका। लूट का भी तेरा क्या विचार। स्वप्न में लड्डू खा रहे हो। इसी प्रकार गुरुमुखी में माँ पूछती है। "बाल तुम यहाँ क्यों आये, कभी विचार किया या नहीं" अच्छा यहाँ लड़ाई में भरती हो जा। इस जीवन कर्म क्षेत्र में तू भी तो एक योद्धा है। जाग, जाग, शत्रु महा-साहसी है, बलवान् है तथा उसको जीतना साधारण बात नहीं है। यह तेरे पीछे पड़ा हुआ है। होशयार रहना, वर्ना धोखा खायेगा। अज्ञान-रूप इस महाशत्रु को जीतना कठिन काम है। प्रायेण असाध्य कहना ही यथोचित है। इस दारुण वीर ने रावण जैसे

करोड़ों वीरों को धराशायी कर दिया। तथा इसके साथ काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ, असूया आदि अनेक सेनायें हैं। अतः पहिले सेना से लड़ाई लड़नी पड़ती है। उन छल निपुण योद्धाओं से जान बचाना सहज नहीं है। क्षण-मात्र के प्रमाद से वे झपट्टा मार अपने आधीन कर लेते हैं। फिर क्या हो सकता है। विश्वामित्र, पराशर प्रभृतियों को भी इन दुष्टों ने न छोड़ा। फिर निर्बल का क्या ठिकाना। अतः गुरु कृपा रूप सुदृढ़ धनुष चढ़ा दो। विलम्ब न करो विचार रूप बाण संधान लो। यम-नियम के कवच धारण करो। सन्तोष की ढाल सदा पास रखो, आघातों को रोकने में मदद देगा। वैराग्य रूपी तलवार कमर में बांध लो। रक्षा के लिये शक्तियों को भी साथ रक्खो जो तुम्हें माता की कृपा से मिल जायेगी। साहस का चक्र धारण करो तथा बुद्धि-सारथि पर पूरी निगरानी रक्खो, क्योंकि सारथि के तनिक प्रमाद से महाविनाश के महागर्त में सरथ गिर जाओगे। इन्द्रिय रूपी घोड़ों की लगाम यत्न-पूर्वक थामे रहो। इस प्रकार इस महासमर में विजयी हो सकोगे। परन्तु बड़े आघात सहकर मूर्छित होकर भी हथियार डालना उचित नहीं है। और भी सुनो इनमें जो काम-रूपी शत्रु है वह महा मायावी है तथा दुर्जय भी। वह असम्भव को भी सम्भव कर लेता है। उससे सदा सावधान रहना। वह तो एक बार भगवान् शंकर से भिड़ गया था, यद्यपि उसका उसे उचित ही फल मिला।

परन्तु उसके साहस की तो हद हो ही जाती है। अब अनंग होने पर भी वह महा-बलवान् है।

क्रोध महावीर तो अपने बाणों से अन्धकार ही अन्धकार फैला देता है। तथा उस समय अपने पराये का भी ज्ञान नहीं रहता। अमृत को गरल बनाने वाला यह शत्रु प्रेमादिक को भस्मीभूत कर देता है। बन्धु मित्र से भी आशंका रक्खेगा। तथा सुख शान्ति तो इसके पास नहीं फटक सकते। अतएव सहन-शीलता रूप कुठारी से ही यह जीता जा सकेगा।

मद रूप शत्रु तेरा धन, मान, बल सबको नाश करना चाहेगा। मात्सर्य शत्रु से भी बचना वैसे ही कठिन है। असूया शत्रु भी आसानी से पराजित नहीं होता, नाना प्रकार के समयोचित उपाय कर इसे जीतने का प्रयत्न करना। अन्यथा सब कुछ स्वाहा।

विषयानन्दी पशुओं का शिकार काल रूपी शिकारी अनायास ही कर लेता है। अतएव चैतन्य रहो।

सत्संग में महाराज कह रहे थे, इसी जन्म में अर्थात् अभी पुरुषार्थ करो, तथा ज्ञान का साक्षात्कार करो, नहीं तो कल का नाम काल है। अतः कल के लिये कोई काम शेष मत रक्खो। मुमुक्ष काल का विश्वास न कर सारे संकल्पों का त्याग कर सर्वदा

आत्मानुसन्धान में ही तत्पर रहे। प्रारब्ध के ऊपर शरीरार्पण करे। हानि-लाभ में समभाव रखे। हमेशा सन्तुष्ट रहे। बाल से श्री स्वामी जी ने पूछा - "ज्ञान से कर्म का क्या सम्बन्ध है ?" तब मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि ज्ञानी का कर्म बन्धन कारण नहीं होता। पुनः श्री स्वामी जी बोले - परम-ज्ञान से कर्म का बन्धन नहीं होता। जैसे सूर्य में अन्धेरा नहीं रह सकता, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म का मेल नहीं है। साध्य अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं होता है। निर्वाण समाधि में अखण्ड एक सत्य-वस्तु ही रह सकती है। साक्षात्कार में सहज-भाव से द्वैत-भाव नहीं रहता। वहाँ सच्चिदानन्द से परिपूर्ण आत्माओं में वाणी आदि उपकरणों का प्रवेश नहीं होता।

मैया ! गंगे ! आज भी बाल तेरी गोद में बैठा है। माँ ! गिरिराज भवन में तेरा जन्म हुआ। गिरिराज ने भी नन्द यशोदा की तरह तुम्हें श्यामसुन्दर सम पाला पोसा यद्यपि अपने भवन से बाहर भेजना वे तुझे नहीं चाहते थे तथापि लोक मर्यादानुसार उन्होंने तेरा विवाह सागर से कर दिया। जब तुम वर-गृह को चली, तब तुम्हारे पिता ने वियोगाश्रु बहाये होंगे। मगर पति-परायणा नव-वधू रुकती-रुकती चल ही पड़ी। तब वे ही अश्रु-बिन्दु भीमकाय शिला-खण्डों के रुप जगह-जगह पर स्थित

हैं।

पतिव्रता तो सब देवताओं का साक्षात्कार पति में ही कर लेती है। पति ही उसका ईश्वर है। प्रसीद।

आज मेरी गंगा मैया श्री गुरु-रूप से उपदेश कर रही है। बाल तू कौन है ? सोचा है कभी ! स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीनों प्रकार के शरीर मेरे हैं। अथवा मैं ही समझो। इस शरीर से तू कैसे बनता है। शरीर अविद्या-रूप मेरा कार्य है। मेरे पदार्थ का अभिमान तू केवल पुत्र-रूप से ही कर सकता है। और वह तो बाल-लीला मात्र है। **शरीर तो कर्म-फल से काल-तन्त्र में बनता है। अतः बढ़ता घटता चला जा रहा है।** मैं ही तुझमें यह अद्‌भुत प्रपंच की सूत्र धारिणी हूँ। तेरी माता पार्वती में ही थी, काली-भक्त भी मैं थी। तू भी में ही हूँ। तेरे बापू जी ने अपनी वाणी से तुझे चेताया था वह रहस्य याद है कि मन-प्राण के साथ पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ जो अपने आधार विषयों में प्रवृत्त हैं। उस मन का भी मन, प्राणों का प्राण, श्रोतों का श्रोत्र तथा नेत्रों का भी नेत्र, मैं ही हूँ। तथा उन सभी इन्द्रियों से अगोचर हूँ। अतः वाणी आदि से परे हूँ। यह ब्रह्म-विषय गोचर नहीं है। उसका केवल अनुभव-मात्र हो सकता है। उसको तू आत्मपुरुष जान। विद्या,

अविद्या दो मेरी शक्तियाँ हैं। मैं महामान्य हूँ। मैं ही संसार की माता हूँ। शुद्ध केवल चैतन्य से विद्यारूप, तथा अविद्या ये दो रूप भी अलग-अलग मालूम होते हैं। सूर्य-रूप चैतन्य, प्रतिबित्व रूप विद्या तथा अन्धकार रूप अविद्या समझनी चाहिये। प्रतिबिम्ब, अन्धेरा दो रूपों से होता है, परन्तु वे सूर्य में नहीं होते उनका अनुभव तो सूर्य करके होता है। इस प्रकार मेरी दोनों शक्तियों की स्थिति है। तेरा स्वरूप तो स्वयम् चेतन है। स्वयम् चेतन में भी में ही चेतनता हूँ। इस प्रकार जो जानता है, वही जानता है। आत्मा सदा सत्य है सत्य पदार्थ का मिथ्या-भाव नहीं हो सकता। यह आत्मा एक है। अतः मेरा, तेरा, उसमें नहीं है। यह चैतन्य अखण्ड है। अतः नानाभाव केवल भ्रांति ही है। आकाशवत् इस सत्य पदार्थ का कोई खण्ड नहीं हो सकता। आकाश की उपाधि से घटाकाश-मठाकाश आदि संज्ञायें व्यावहारिक है। परमार्थ में तो अभेद है। एवं जीवात्मा परमात्मा आदि भेद केवल शुद्ध पदार्थ में कल्पना मात्र है सत्य नहीं हो सकता। बाल "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः" शुद्धि-बुद्धि मुक्ति की भावना उत्पन्न करती तथा अशुद्ध बन्ध की निर्मल-चिदाकाश में आत्मा का अनुभव होता है, और यह अनुभव करने वाला भी आत्मा ही है। "विज्ञाताऽभरं केन विज्ञानीयात्" समझने वाला आत्मा से परे और कुछ नहीं देखता। "न दृष्टे दृष्टारं पश्ये" जड़ पदार्थ चैतन्य

का अनुभव करना असम्भव है। इस दृष्टा अर्थात् देखने वाले को कौन देख सकता है। नेत्र देखता है परन्तु श्रोत्रादि दूसरी इन्द्रियों से वह स्वयम् नहीं दिखाई देता। नेत्र से ही देखना सम्भव है। शुद्ध-दर्पण में नेत्र से ही नेत्र का नेत्र के बिना निर्मल-दर्पण भी व्यर्थ है। ठीक ई प्रकार आत्मा के बिना बुद्धि आत्मा को नहीं देख सकती। ठीक इसी प्रकार आत्मा के बिना बुद्धि आत्मा को नहीं देख सकती। अतएव बुद्धि रूपी दर्पण शुद्ध व निर्मल होना चाहिये। अन्यथा आत्मदर्शन करना असम्भव है। अथवा चंचल व दोष कलुषित अन्तः करण में आत्मा का अनुभव सर्वथा असम्भव है। इसीलिये अनेक प्रकार की साधनायें इसी बुद्धि व अंतः करण को शुद्ध करने के निमित्त की जाती है। कोई भगवद्-कीर्तन भजन से, कोई अष्टांग-योग से अथवा निष्काम कर्मयोग से इसी लक्ष्य प्राप्ति का उद्योग करते हैं। **भक्ति अथवा शरणागति इस कलि-काल में अत्यन्त सुगम मुक्ति-मार्ग है।** भगवान् स्वयम् घोषणा करते हैं, कि मैं अपने भक्त को कष्ट नहीं देता। मेरी कृपा से वे आनन्द-पूर्वक संसार-सागर से पार हो जाते हैं। जो सदैव मेरे लिये व्याकुल हो अनन्य भक्ति-पूर्वक मेरा स्मरण करता है उसे कोई पदार्थ अलभ्य नहीं है। तथा उसे शीघ्र ही शांति प्राप्त होती है। **आत्म सूर्य के उदय होते ही**

अज्ञानान्धकार-रूप सांसारिक यातनाओं का नाश हो जाता है। क्योंकि विक्षेप और आवरण-रूप दोनों अविद्याओं के पर्दे के हटते ही सत्य का प्रकाश स्वयमेव प्रकट हो जाता है। बाल ! मैं मुक्ति-दात्री हूँ। तभी तो मेरा नाम ब्रह्म-विद्या या परा-शक्ति है। तथा मैं ही बन्धन में डालती हूँ। और ऐसी अवस्था में मुझे अज्ञान, अथवा आसक्ति कहते हैं। ज्ञानी लोग ब्रह्मा, विष्णु, वा शिव-रूप में मेरा दर्शन करते हैं। परब्रह्म से उनकी चित्त-शक्ति पृथक नहीं है। तथा इच्छा शक्ति, क्रिया-शक्ति, ज्ञान-शक्ति के रूप में में ही वास्तविक शक्ति हूँ। तथा इसी शक्ति से संसार का उद्भव, पालन व नाश होता है।

अब मेरी चित्र-विचित्र शक्ति का वर्णन सुनो- वाणी-हिरण्यगर्भ रूप से मैं ही सृष्टि करती, और लक्ष्मी-नारायण रूप से पालन व गौरी-शंकर रूप से संहार करती हूँ। काल-शक्ति, काली मैं ही हूँ। तथा आसुर-भाव नाशिनी संहारणार्थ दुर्गा मैं ही हूँ। शचि-पुरन्दर होकर मैं देवताओं की रक्षा करती हूँ। द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, उनपञ्चाशत् मरुद्गण, एकादश रुद्र, दश दिक्पाल, अश्विनीकुमार, विश्व देव सब मेरी विभूतियाँ हैं। विराट से विराट भी मैं ही हूँ। तथा चेतन से लेकर परमाणु तक सूक्ष्माति

सूक्ष्म भी मैं ही हूँ। मुझ रहित कुछ भी नहीं है। सत्यासत्य का निर्णय मनुष्य अपने अनुभव से विपरीत भी कर सकता है परन्तु सत्य सत्य ही है।

बाल ! और भी सुनो-इस संसार में नाम-रूप से अथवा स्थूल व सूक्ष्म-रूप से जो कुछ देखते हो सब मेरी लीला मात्र है, स्वप्न के समान, इन्द्रजाल वत् यह माया अत्यन्त गहन व गूढ़ है। परन्तु मेरे भक्त मेरी अतुल कृपा से इस मिथ्या प्रपंच से पार हो जाता है। मैं अपने भक्त को संसार सागर से पार कर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में मिला देती हूँ। तब स्वरूपानुभव से प्राणी की सारी भ्रांति समाप्त हो जाती है। यथा "रज्जोर्यथाहे र्भ्रमः" के अनुसार आत्मा में प्रपंच भासता है। आत्मानन्द में संसाराभास नहीं होता जब तक योग-माया का पर्दा पड़ा रहता है तभी तक उसका आभास भी होता है। **आत्मा-रूपी सत्य का अन्वेषक मेरा परम-भक्त कहलाता है। तथा परमार्थ में मोक्ष-प्राप्त्यर्थ सतत् उद्योग करता है।**

बाल ! तू भी शुद्ध सनातन ब्रह्म है। तुझ निर्मल चिदाकाश में संसार आकाश कुसुमवत् अथवा मृगतृष्णा मात्र है। जैसे जल में प्रतिबिम्ब, सीपी में रजत, और आकाश में नगर का अस्तित्व है

उसी प्रकार निर्मल-स्वरूप में संसार का अस्तित्व अवास्तविक है। स्वप्न में बन्ध्या स्त्री की पुत्रोत्पत्ति होने से वास्तव में उसका बन्ध्यत्व दूर नहीं होता। उसी प्रकार यह संसार भी वासना कलुषित अविद्या का स्वप्न मात्र है। परमार्थ में मेरी वृत्तियों का प्रवेश नहीं हो सकता। बाल ! वहाँ तो वृत्तियाँ दूर से ही मिट जाती हैं। तथा वृत्ति ज्ञान नहीं रहता। वहां न मैं हूँ न तू ऐसे अनुपमानन्द का अनुभव कर जीवन सार्थक करले। जिस स्थिति में वेद, अवेदवत् तथा श्रुति अश्रुति के समान भासती है वही स्वराज्य है जो केवल अनुभव वेद्य है। पांचो तत्व अपने वृद्ध रूप में समा जाते हैं। योग माया रूपणी मुझ माता से योगेश्वर रूप चैतन्य, काल प्रेरणा से, बाल रूप पैदा हुआ। ये सारे प्रवचन उपमान हैं। वास्तव में न कोई माता पिता न पुत्र। नेति नेति।

ऐसे निषेधार्थ में जो अनिषेध है वह वही आत्मा है। तथा तू वही है। बुद्धि आदि उपकरणों को अलग कर जो बचा वही तू है। यह आत्मा न काला है न पीला आदि। न छोटा है न मोटा, न सूक्ष्म है न स्थूल, न अन्त है न अनन्त। आत्मा से ही वेद्य है। आत्म बुद्धिरूप पहिली अरणी तथा आत्मा रूप दूसरी अरणी से, अनुसंधान की मथनी बनाकर मथने से विज्ञान रूप अग्नि प्रकट होती है। यह अग्नि द्वैत भाव रूप वन को भस्म कर

शांत हो जाती है। यही मुक्ति कहलाती है। यही लक्ष्य तथा लक्ष्य भेदन है। ज्ञानाग्नि समस्त उपाधि-रूप काष्ठ को भस्म कर अनन्त सनातन अक्षय-सुख का विस्तार करती है। जिज्ञासु रहस्य को समझें। अस्तु।

प्रिय तात, सहजावस्था में ब्राह्मी-स्थिति भी मैं हूँ। मैं हितु हूँ। तेरे प्यारे बापू जी भी मैं ही हूँ। ओंकार मेरा ही रूप है। अकार से बहि प्रज्ञ विश्व होकर दक्षिणाक्षी में मेरी प्रतिष्ठा है। उकार मात्रा अन्तः प्रज्ञ स्वप्नावस्था का अभिमानी तैजस भी मैं हूँ। तथा मकार प्रधान-धन प्राज्ञ सुषुप्ति का अभिमानी भी मैं हूँ। चतुर्थ-मात्रा बिन्दु अर्ध-मात्रा का शुद्ध चैतन्य मैं हूँ। विश्व का अक्षी, तैजस का कल्प-प्राज्ञ का हृदय, चैतन्य का सहक्षार अध्यतन है। ये चार अवस्थायें औपाधिक हैं। किन्तु समाधि-गत चौथा पद विलक्षण हैं इसकी तुरीय संज्ञा है। इससे परे तुरीयातीत है। जिसको अनिर्वाच्य, सहज स्वराज आदि अनेकों नामों से पुकारते हैं। वह केवल ब्रह्म में है उसमें श्रुति आदि नहीं पहुंच पाती। वही अगेय-पद, शुद्ध चैतन्य तेरा स्वरूप है। वह आत्मा तू ही है। तू ही मैं हूँ। स्वस्ति।

गुरुदेव से प्रेरित सरस्वती माता प्रसाद वितरण कर रही है। सत्य-मार्ग दया से ही प्रशस्त होता है। और दया विचार से,

विचार स्वभाव से तथा स्वभाव मेरी कृपा से उत्पन्न होता है। "दया धर्म का मूल है" दया से अहिंसा का पालन होता है। अहिंसा अर्थात मन, कर्म, वचन से किसी को दुःख न देना। क्योंकि सब में वही एक आत्मा-स्थिति है। अतः दूसरों को दुःख देना आत्मघात के समान है। मैं, तू, वह तो केवल भ्रांति है, आत्मा एक है। अज्ञानमयी बुद्धि नाना भाव का अनुभव करती है। परन्तु आत्म बुद्धि से सब जीवों में समान प्रेम ही अहिंसा-वृति है। ज्ञानियों के लिये तो आत्मा, न मारता, न मरता है, फिर भी साधकों को अहिंसा वृति का पालन यत्नपूर्वक करना चाहिये। इसी तरह सत्य वृत्ति भी है। मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य पालन ही सत्य वृत्ति है। तब सत्य-स्वरूपरिणी जगन्माता प्रसन्न हो सब दुःखों का नाश कर परम सुख प्रदान करती हैं। तीसरी क्षमा है। अर्थात् आत्म बुद्धि से सब अपराधों को सहन करना तथा क्रोध के उद्वेग को शान्त करना ही क्षमा है। चौथा अपरिग्रह आत्मप्राप्ति के बाधक भोगपदार्थों का त्याग ही अपरिग्रह कहलाता है। अपरिग्रह वैराग्य से होता है, भोग्य पदार्थों को नश्वर समझकर उनमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। पांचवी शुद्धि (शौच) बाहर भीतर पवित्रता रखना ही शौच है। बाहर पानी मिट्टी आदि से तथा उचित शारीरिक कर्म से शुद्ध रक्खे। तथा अन्तः करण को तप, यज्ञ, दान तथा निष्काम कर्म योग से शुद्ध रखना ही शौच कहलाता है।

समाधान ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ईश्वरार्पण आदि सद्वृत्तियों का पालन करना तथा सुख दुःख में उद्वेग न करना समाधान कहलाता है। इन्द्रियों का संयम कर वीर्य धारण करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। सर्वस्व को ईश्वर गुरु को समर्पण करना ही ईश्वरार्पण कहलाता है। सद्ग्रन्थों का मनन करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय से भिन्न प्रकार के प्रमादों से बचा जा सकता है।

उपरोक्त समस्त सद्गुणों का पालन यत्नपूर्वक करता हुआ साधक अनुकूल पवित्र स्थान में सुखासनास्थ हो योगाभ्यास करे। स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि किसी आसन में स्थिर रहने का अभ्यास करे। आसन गुरु के उपदेशानुसार सिद्ध करे। जब कम से कम तीन घन्टे तक स्थिर भाव से आसनस्थ रह सके तो आसनसिद्धि समझले। आसनसिद्धि मनः शुद्धि स्वस्थ्य आदि के लिये प्राणायाम का अभ्यास करे। गुरु के समीपस्थ हो प्राणसाधना काल में आहार विहार को यथोचित ग्रहण करे। सात्विक भोजन यथा दूध, घी में मिला हुआ शाल्यान्न, मूंग की दाल, फल आदि पदार्थ विशेष लाभदायक हैं। उदर का चतुर्थांश प्राणसंचार के लिये खाली रक्खे। सायंकाल अल्पाहार अथवा फलाहार करें। खट्टा, मीठा, लवण, मसाला, मिर्च, दही आदि

वर्जित है। इड़ा से सावधान हो श्वास खींचना, तथा पिंगला से छोड़ना, फिर पिंगला (नाक का दायां द्वार) से खींचकर धीरे-धीरे इड़ा से छोड़ना। इस प्रकार चौबीस बार करना चाहिये। सायं, प्रभात, मध्याह्न तथा अर्ध-रात्रि को विधि पूर्वक तीन महीने तक करने से नाड़ी-शुद्धि होती है। तदनन्तर गुरु-उपदेशानुसार पूरक, कुम्भक-रेचक प्राणायामों का अभ्यास करे। प्रणव अथवा इष्ट मन्त्र से मात्रानुसार शनैः-शनैः बढ़ाते हुये गुरुकृपा से विघ्न नाश होगा। धीरे-धीरे सिद्धि प्राप्त होती है। अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राणायाम से प्राप्त की जा सकती हैं। परन्तु मोक्षेच्छु सिद्धियों के फेर में न पड़े, यदि पड़ गया तो परम सिद्धि अर्थात् मुक्ति मिलना कठिन है। तदनन्तर साधक प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश कर धारण करे। और आत्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ट गुरु से शिक्षा लेता रहे। धारणा को स्थिर अखण्ड तैल धारावत् प्रकृत अनुसन्धान रूप ध्यान करे। इसी ध्यान में मग्न होने पर स्वयं समाधी की प्राप्ति होती है। समाधी में भेद ज्ञान स्वयम् नष्ट हो जाता है। अनुभव वेद्य अनिर्वचनीय परम-पद में प्रतिष्ठा होती है। यही आठ अंग से युक्त राज योग है। यह अवस्था प्राप्त होने पर प्राणी फिर मोहित नहीं होता। इसको श्रद्धा, ध्यान भक्ति, योग से साधक प्राप्त कर सकता है।

बाल ! और सुन। हर समय यह समझकर मैं प्रकाश-स्वरूप ब्रह्म हूँ। सदा प्रसन्न रहना चाहिये। ब्रह्मरंध्र में सहस्त्र-दल कमल योनि में अपनी आत्म ज्योति का ध्यान करे। कोटि सूर्यों के समान तेजस्वी, कोटि चन्द्रमाओं सदृश शीतल से आत्म-ज्योति का चलते फिरते हर समय ध्यान करे। और सब विचारों का त्याग कर दे। तब तू भी तदाकार हो जायेगा। मेरी वाणी वेद है, नेति नेति कह कर मेधावी नाम रूप का त्याग करे। सारी उपाधियों को त्याग कर अवधि रूप निर्वेद आत्म तत्व को जान ले। चित्त वृत्तियों का निरोध कर सहस्त्रार में शिव तत्व से शक्ति का लय करना ही समाधि है। गुरु भक्त, साहसी, मेधावी, मम भक्त ही इस परम पद का अधिकारी है। **अनधिकारी गुरु प्रसाद के रहस्य को नहीं जान सकता।** गुरु प्रसाद अन्त्य जन्म का अन्न है, यह अन्न भी तथा अन्नद भी मैं ही हूँ।

एक ताल और बजाऊंगी। बाल ! एकान्त पवित्र स्थान में सुखासनस्थ हो मोक्षेच्छु उत्तराभिमुख हो बैठे। प्रथम गुरु, इष्ट-देव गणेश, दुर्गा आदि विघ्न नाशकों का ध्यान पूजा वन्दनादि मानसिक क्रिया द्वारा करे। पुनः शरीर विभाजन की भावना कर अपने को अलग देखते हुये शरीर को देखे। अस्थिदन्त आदि को उन के कारण भूमि में लय करे। रस भाग जल में, तेज को तैजस में, प्राण वृत्तियों को वायु में, शून्य भाव को आकाश में लय करे, तथा इन्द्रियों को रजोगुण अहंकार में मन और सब इन्द्रियों के अधिष्ठान देवताओं को सतोगुण में, धरती को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को तमोगुण अहंकार में, तमोगुणी अहंकार को रजोगुण में, रजोगुणी अहंकार को सतोगुणी अहंकार से भावना लय करे। सत्वाहंकार तक अहम् वृत्ति का स्थान है। व्यक्ति निर्देश की परिस्थिति वहीं तक है। यह शुद्ध अहंकार ब्राह्मी रूप में "मैं ही हूँ" से व्यक्त होता है। उसका महतत्व में महतत्व का मूल प्रकृति में लय करे। यह मूल प्रकृति अव्यक्त रूपिणी है। और साक्षात् ब्रह्म ही है। मूल अव्यक्त चित् शक्ति को चैतन्य में अभेद करे। तब एक पूर्ण ब्रह्म की भी स्वरूप से भावना करे। इस लय विधानानुसार चित्त वृत्तियों का लय करने से सत्य का प्रकाश स्वयमेव प्रकट होता है। तथा अणिमादि महासिद्धियाँ दासियां बन जाती हैं। परन्तु बुद्धिमान योगी इन सारी सिद्धियों से उदासीन रहते हैं। उनके लिये माया प्रपंच मिथ्या ही नजर आता है। मेधावी साधक आत्मा के सत्य लोक को छोड़ कर और कहीं नहीं रहता। प्रिय तात् ! जब तू अपने आप को अखण्ड आनन्दधन ब्रह्म ही समझ बैठा तो फिर शरीर भाव कहाँ रहा ? तब तू निश्चल वायु अथवा शान्त समुद्रवत् हो जायेगा। तब तू कृतार्थ असंकल्प हो पूर्व सहजावस्था को प्राप्त हो जायेगा।

सिद्धि-रूप खिलौनों से तू नहीं रमेगा। मुक्ति-सदन का "दासोहम्" प्रथम तथा "सोऽहम्" दूसरी सीढ़ी है। मुक्ति-सदन में "सोऽहम्" प्रकाश भी नहीं रहता। अथ तू बाल ! निरन्तर "अहं ब्रह्मास्मि" का विचारानु-सन्धान कर तब तू तमाम माया प्रपंचों से अनायास ही छूट जायगा। इसी एकत्व भाव से गोपियाँ भी अपने जीवन को सफल कर सकी। नट के समान ज्ञानियों की लीला अद्भुत है। वे स्वयम् शुद्धब्रह्म होते हुये भी लोक रंग में अनेक वेष धारण कर लेते हैं। तथा देखने में अज्ञानियों के समान व्यवहार करते प्रतीत होते हैं। परन्तु वे हमेशा आत्माराम ही रहते। विशेषता तो इसी में है। ज्ञानी अज्ञानी दोनों हँसते रोते तथा सभी काम एक समान करते, कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता। **परन्तु ज्ञानी रोने पर भी न रोते तथा हँसने पर भी न हँसते।** अज्ञानी दोनों अवस्थाओं में रोते ही रहते हैं। गोपियाँ पराविद्या की कलायें थी। तथा श्रीकृष्ण स्वयम् ब्रह्म-रूप थे, अतः ये कलायें भी ब्रह्मकार हो जाती। गोपियों ने श्रीकृष्ण में सब जगत तथा सबों में भगवान को साक्षात्-कार किया। "जित देखो तित श्याममयी" बन गयी ? सच है पागल को सारे पागल सूझते? डोरी समझता तो सर्प कहाँ रहता। एक ही रहेगा। सर्प में न डोरी है, डोरी न सर्प है। विपरीत-भावना अज्ञान जन्य है। अज्ञान भ्रान्ति

का मूल है। प्रिय बाल ! यही पुष्प बाटी देखो। इसी में चार प्रकार के फूल खिल रहे हैं। सुगन्धि, दुर्गन्धि, समगन्धि, निर्गन्धि ये क्रमशः सतोगुण, तमोगुण, रजोगुण, तथा निर्गुण कहा जाता है। स्वर्ग, पाताल, भूलोक तथा अलोक इसका स्थान है। यह सारे बूटे का बीज तो एक है। सफेद, काला, पीला, नीला, क्रमशः इन फूलों का रंग है। बीज तो बिरंग है। यह बगीचे का माली अमानव-पुरुष कर्षण विद्या का पारंगत है। कोई भी यह आश्चर्यवान माली को देखे तो वह भी उसका अनुगमन करेगा। जब ज्यादा माली से प्रेम बढ़ जाने पर निर्दयी की तरह माली उसका अन्त कर लेवे।

अस्तु प्रणाम

श्री मैया ! पार्वती ! प्रेम प्रणाम प्रसून से श्रद्धाजंलि अर्पण करते हुये मेरा प्रणाम यहि अनुपम कुसुम का मातृ-लते, पुष्प चरणों में अनन्दानन्द प्रणाम। विनती बालक राम जी ! अन्यन्त भाल-युक्त ! आपको श्रद्धाशक्ति पूर्वक विनीत प्रणाम। अज्ञान तमो निकर कुल चण्डयानी, श्री सद्गुरु-नाथ आत्म स्वरूप देव, आप श्री पुरुषोत्तम दिव्य-धाम की निकरण समर्पण रूप ज्ञान प्रणाम। श्री निधान स्वामी जी की जय। पुरुषोत्तमा भिधान आतृम देव की जय, आनन्द स्वरूप आनन्द की जय। ब्रह्म-रूप महान की जय, स्वराज रूप राज की जय, जय स्वरूप जयाकार की जय, श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी महाराज की बार-बार जय, तथा प्रणाम विघ्ननाशक विनायक रूप गुरुदेव की जय, माता परमेश्वरी रूप गुरु भगवान की जय, सूर्यनारायण रूप सद्गुरु को नमः, श्री वाणी हिरण्यगर्भ रूप लोक गुरु को नमः, साक्षात् लक्ष्मी-नारायण स्वरूप श्री पुरुषश्रेष्ठ को नमः, श्री उमा महेश्वरावतार साक्षात् श्री नीलकण्ठ को नमः, सर्व देवमय, सर्व तीर्थ-मय, सर्व पुष्प-सार यज्ञ पुरुषानन्द भगवान आचार्य देव नमस्ते, अशरण शरण शरणागत रक्षक आश्रित वत्सल महा तपोधन अभिनय वसिष्ठ-भगवान आपको कोटि-कोटिशः प्रणाम। ओऽम्।

हे शान्ति दाता, सर्व पिता गुरु भगवन् जगत को शान्ति

प्रदान कीजिये ! हे धर्म-मूर्ति ब्रह्मण्य-देव सब के लिये परम शान्ति वर दीजिये ! जेसे शीतकिरण चन्द्रमा अपना अमृतमय-स्वभाव से आतप संतप्त जीव को सुख देते, वैसे ज्ञानचन्द्र सुखदाता गुरु भगवान आप भी संसारातप संतप्त जगत को शान्ति दीजिये ! आपकी महा-महिमा से स्वर्ग में शान्ति बने, अन्तरिक्ष में शान्ति बने, पृथ्वी में, पानी में, औषधि में, वनस्पति में, विश्वदेव में, शान्ति रहे, ब्रह्मस्वरूप, आदि ब्रह्म-पुरुष में शान्ति भासित रहे ! सर्व में शान्ति स्पष्टभाव से वर्ते, शांतिरेव शान्तिः सुशान्तिर्भवतुः।

मंगलं सद्गुरोदेव, मंगलं पुरुषोत्तम ।

मंगलं गुण-निधे ब्रह्मन्, ज्ञानमूर्ते नमोस्तु ते।।

ओम्ः शान्तिः।

भजन

राधे (श्याम) राधे बिना मेरा कौन है।
ओर न मेरा कोई राधे तूही तूही तूही,
तूही तूही तूही राधे तूही तूही तूही।
राधा-कृष्ण तो एक हैं इनमें नहीं भेद,
जो ऐसा जान ले सो जग में बड़-भागी।
राधे (श्याम) राधे .....
राधा-कृष्ण अभेद है जैसे चांदनी चान्द,
राधा-कृष्ण तो एक है जैसे बिजलि उजाले।
राधे (श्याम) राधे .....
राधा तो श्रीकृष्ण में जैसे तिल में तेल,
राधा तो श्रीकृष्ण में जैसे जल में शीत।
राधे (श्याम) राधे .....
राधा तो श्रीकृष्ण में जैसे जग में माया,
जैसे नभ में नाद वैसे शिव में राधा।
राधे (श्याम) राधे .....
मैं तो भस्म तू है पानी,
तू चान्द मैं चकोर।
तुम हो प्राण-धन यह तन का,
तूही लगन यह मन का।
राधे (श्याम) राधे .....

तुम तो वारिधर मैं चातक,
तेरे बिना न मेरा सुख-दायक।
प्रेम-रस हरि भर, भर पिलादे,
तन मन सुध सब ही भुलादे।
राधे (श्याम) राधे .....
राधा है परमेश्वरी श्याम तो भगवान,
जो इनको पहिचाना सो तो सब कुछ जान।
राधे (श्याम) राधे .....
राधे, राधे पुकार दे जब तक तन में प्राण,
श्याम, श्याम पुकार ले जब तक तन में प्राण।
राधे (श्याम) राधे .....
राधा रसिक रसायन मोहन मादक-मोदक,
नन्द दुलारे वृषभानु दुलारी,
ओं श्याम, श्याम की सुन्दर जोड़ी।
राधे (श्याम) राधे .....
आये शरण में बालक तुम्हारे,
दीनजना-वन पालन कीजो,
चरणं शरणं भव-भय हरणं,
तरणं गुरु-पद मंगलं सुखदं।।
राधे (श्याम) राधे .....

।। इति।।

पुरुषोत्तम गाथा

अथवा

(प्रेम सुधा)

रचयिता

स्वामि बाल

पूर्व प्रकाशक

बी० पिल्लै गुरु भक्त बीरेश

(स्वामी प्रकाशानन्द जी)